

# भूख को विकाश का ताज बना दिया !

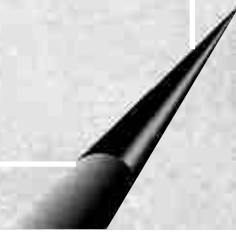
(एक संकलन / सचिन कुमार जैन)

भूख मरती नहीं है,  
सो जाती है छोड़ी देर के लिये  
रोटी की छप्पकी से  
इससे मुक्ति का कोई रास्ता नहीं  
हम भूख के स्याई उपनिवेश हैं  
इसे जो भी मिलता है  
वह खा लेती है हमारे भीतर,  
रोटी या फिर उज्जी आंतों को  
जिनमें यह पलती है  
और बढ़ता जाता है  
भूख का साम्राज्य।



# समर्पण

यह पुस्तक समर्पित है  
प्रिय प्रभाष जोशी जी  
की कलम, नज़र और  
व्यक्तित्व को



शीर्षक	:	भूख को विकास का ताज बना दिया ! (Bhook ko vikas ka taj bana diya!)
संकलन/लेखन	:	सचिन कुमार जैन
प्रकाशक	:	विकास संवाद ई-7/226, प्रथम तल धनवन्तरी काम्पलेक्स के सामने अरेरा कॉलोनी, भोपाल (मध्य प्रदेश)
फोन/फैक्स	:	0755 - 4252789
ई-मेल	:	vikassamvad@gmail.com
वेबसाइट	:	www.mediaforrights.org
संस्करण	:	प्रथम / 2010
संपादन	:	मणिमाला
आवरण	:	अमित सक्सेना
मुद्रक	:	एमएसपी ऑफसेट, भोपाल

**विशेष** – विकास एक प्रक्रिया है। यह तो चलती ही रहेगी। इस मामले में हमारे हाथ शायद कुछ भी नहीं है। परन्तु विकास की प्रक्रिया मानवीय, गरिमामय और जिम्मेदार हो, यह सुनिश्चित करना तो हमारे हाथ में ही है। हमारा विकास समाज के कुछ तबकों को अमीर और कुछ को गरीब न बनाये, यह तय करना ही हमारी राजनीति का केन्द्रीय सिद्धान्त होना चाहिये। इसी परिप्रेक्ष्य में विकास के तराजू को समाज के वंचित समुदायों के पक्ष में लाने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने 8 सहस्राब्दि विकास लक्ष्य तय किये हैं। यह माना गया था कि गरीबी और भुखमरी मानव विकास के सामने सबसे बुनियादी चुनौतियाँ हैं। गरीबी और भुखमरी के इसी सवाल पर **संयुक्त राष्ट्र सहस्राब्दि विकास अभियान के सहयोग से** विकास संवाद (मध्यप्रदेश) ने कृषि, खाद्यान्न उत्पादन और भूख पर यह तथ्यपरक पुस्तक तैयार की है। मकसद है विकास लक्ष्य की चुनौतियों के जमीनी विश्लेषण को व्यापक मंचों पर लाना।

# भीतर के पन्नों पर

## अध्याय

हमारी बात		अ
राजनीति की भूख बनाम भूख की राजनीति	सचिन कुमार जैन	1
आधुनिक सभ्यता का संकट	सुनील	4
खस्ताखल खेती ने खड़ा किया है भूख का संकट	माधुरी	16
भूखे और कुपोषित बच्चों का एक प्रदेश	सुनील	20
मौजूदा ढांचे में महिलाओं और बच्चों की स्थिति	रोली शिवसे / प्रशांत दुबे	27
भुखमरी का चेहरा	सचिन कुमार जैन	34
सूखी धरती; भूखे लोग	सचिन कुमार जैन	41
हरित क्रांति के बाद	सचिन कुमार जैन	45
खाली हो रही है थाली ?	सचिन कुमार जैन / चांदनी त्यागी	61

## तालिका

1 -	कुपोषण के मामले में मध्यप्रदेश और भारत की तुलनात्मक स्थिति	25
2 -	भारत में खाद्यान्न और दाल की सकल उपलब्धता	36
3 -	ग्रामीण इलाकों में प्रति व्यक्ति कौलोरी उपभोग - औसत	37
4 -	मध्यप्रदेश में गेहूं उत्पादन में कमी (टन में)	42
5 -	अनाज उत्पादन व पैदावार की स्थिति : मध्यप्रदेश	43
6 -	मध्यप्रदेश में गेहूं की उत्पादकता में कमी	43
7 -	प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग खर्च की खाद्य व अखाद्य श्रेणियों में तुलना	70
8 -	अनाज व भोजन के लिए औसत प्रति व्यक्ति औसत खर्च तथा कुल उपभोक्ता खर्च में उसकी हिस्सेदारी	71
9 -	चुनिंदा खाद्य समूहों पर प्रति व्यक्ति औसत उपभोग खर्च 2006-07	72
10 -	प्रति व्यक्ति मासिक अनाज उपभोग में चावल व धान की हिस्सेदारी, वर्ष 2006-07	73
11 -	ग्रामीण क्षेत्र में 30 दिनों में प्रति व्यक्ति विभिन्न अनाजों के उपभोग की औसत मात्रा	73
12 -	शहरी क्षेत्र में 30 दिनों में प्रति व्यक्ति विभिन्न अनाजों के उपभोग की औसत मात्रा	75
13 -	ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 30 दिनों में विभिन्न उत्पादों के लिए उपभोग का औसत खर्च	76

## हमारी बात

1947 में बाहरी उपनिवेशवाद से आजादी के बाद अंदरूनी उपनिवेशवाद ने अपनी जड़ों को गहराया। इसने खेती, किसानों और मजदूर-मजदूरी को अपनी गिरफ्त में लिया। यही यहां के आम लोगों की ताकत थी। इसी ताकत के सहारे लड़ी गई थी आजादी की पूरी लड़ाई। अब इन्हें अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़नी पड़ रही है। इसमें ये अकेले छूट गए हैं। सरकार चलाने वाले, कल कारखाने वाले, स्कूल कॉलेज चलाने वाले, अफसर-बाबू सब एकजुट हो इनके खिलाफ खड़े हैं।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भी पुर्तगालियों और अंग्रेजों ने खेतों पर हमला करके अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। आज एक बार फिर इतिहास खुद को दोहरा रहा है। खेती को गैर-जरूरी मानकर खत्म किया जा रहा है। यह खेती ही है जिससे कम से कम 62 फीसदी लोगों का पेट भरता है। सरकार चाहती है कि आर्थिक विकास में इस खेती का हिस्सा 10 से 12 प्रतिशत से ज्यादा न हो। आज देश के सकल उत्पाद में खेती की हिस्सेदारी सिर्फ 17 प्रतिशत रह गयी है। किसानों का देश रहा है भारत। अब वे मजदूर बन रहे हैं। कोई कहीं बंध रहा है तो कोई कहीं जुत रहा। महानगरों में रईसों की रईसी के सामान जुटा रहा है खुद को लुटा कर। सरकार ने भी अपने खजाने, जो वास्तव में इन्हीं मेहनतकशों की कमाई से बने हैं, केवल महानगरों और महानगरिकों के लिये खोल रखे हैं। महाजनों की तरह सरकार भी किसानों को कर्जदार बना रही है। हर साल ढाई से तीन लाख करोड़ रुपये का कर्ज किसानों को दिया जा रहा है। मंदी ...मंदी का शोर मचा तो बिना देर किए पचास हजार करोड़ रुपये की नकद रियायत (अंग्रेजी में जिसे बैलआउट पैकेज कहते हैं) जारी कर दी गई। उद्योगों और पूंजीपतियों को इतनी बड़ी रियायत और किसानों को महज 1200 रुपये की राहत (एक एकड़ के लिये)। वह भी तब जब किसान ने निंदाई और बुआई की हो यानी 10000 रुपये खर्च किये हों।

अब 65 प्रतिशत किसान (छोटे और मझौले किसान) खेती तो क्या खेती की बात करने से डरने लगे हैं कि सरकार नाराज हो जायेगी। जमीन से बेदखली, जबरिया विस्थापन ही अगली मंजिल है। पिछले तीन सालों में मध्यप्रदेश में चार किसान इसलिये मार दिये गये क्योंकि वे अपनी जमीन नहीं पकड़े बैठे थे, छोड़ने को तैयार न थे। गरीब देश की अमीर संसद में दो तिहाई सांसद करोड़पति जो हैं! कई तो बड़े औद्योगिक घरानों के मालिक प्रतिनिधि भी हैं। इन्साफ के मंदिरों से भी कोई उम्मीद नहीं है। इसे चलाने वाले कानून करोड़पतियों-अरबपतियों की संसद ही तो बनाती है। न्यायालयों की अपनी लेटलतीफी भी कम नहीं है। यहां तो पांच की घास चुराने का मामला 30 साल तक चलता है।

इंदौर में अब्दुल वहीद ने सईद मोहम्मद नाम के एक व्यक्ति के खिलाफ 20 अक्टूबर 1979 को घास के 10 गट्टर चुराने का मामला दर्ज कराया था। यह केस 30 साल तक चला। नवम्बर 2009 में सईद को यह कहकर बरी किया गया कि चोरी के कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं। सईद 30 साल तक कचहरी के चक्कर लगाता रहा और अब्दुल वहीद की मृत्यु हो गई।

दुनिया के सबसे ज्यादा भूखे लोग इसी देश में रहते हैं। कुपोषित बच्चे भी सबसे ज्यादा यहीं हैं। दूसरी ओर केवल 100 परिवार 25 प्रतिशत सकल घरेलू उत्पाद पर नियंत्रण रखते हैं। उनके पास 276 अरब डालर की संपत्ति है। धन पर नियंत्रण जमीन, पानी, जंगल पर नियंत्रण के बगैर मुमकिन नहीं है। इसी के लिए सरकार नीतियां बनाती है। पिछले साल, 2008 में मंदी के बावजूद भारत में खरबपतियों की संख्या 27 से बढ़कर 52 हो गई। जिनके पांच तले की जमीन खिसकी उनकी संख्या 66 करोड़ से बढ़कर 72 करोड़ हो गई। आज कुपोषण भी इन्हें ही मार रहा है और भूख भी।

दरअसल भुखमरी और खाद्य सुरक्षा महज खेती, पर्यावरण और सूखे का नहीं, बल्कि आर्थिक राजनीति का मसला है जो भूख की

राजनीति की जरूरत को जन्म देती है। इसी जरूरत के मद्देनजर हमने अपने अनुभवों को समेटने सहेजने की कोशिश की है। इस पहल में संगठन के विचारक साथियों सुनील भाई, माधुरी बहन और राकेश दीवान ने अहम सहयोग दिया है। भूख और भुखमरी के सवाल पर हर्ष मंदर, बिराज पटनायक, कविता श्रीवास्तव और दीपा सिन्हा ने समय-समय पर खूब मदद की है और कर रहे हैं। साथी प्रशांत, रोली, सीमा, राजु, चांदनी, राकेश, मनोज, सोनू और संतोष तो हमेशा ही साथ खड़े रहे हैं। व्यवस्था के अंतिम पायदान वालों की बड़ी लड़ाई में शामिल होने की छोटी सी कोशिश भर है यह ।



इंतजार न करो दोस्तों  
कि जब कोई मसीहा आयेगा  
यह राजनीति ही है, बदलो उसे,  
यही तय करेगी  
कि खेत में रोटी उपजेगी या भूख  
कोई तो दे जवाब इस शवाल का  
कि तुम्हारे इस विकास ने  
हमारे गांव को क्यों भूखा बना दिया,  
खेत को आचमन में लेकर जीते थे हम  
वहां क्यों तुमने भूख का कारखाना लगा दिया,  
क्यों शरत्ता हो गया है जहर  
झौंर मंहगे हो गये गेहूँ के दाने,  
कोई तो जवाब दे इस शवाल का  
क्यों बढ़ने दिये तुमने  
राजनीति के कदम उस तरफ  
जिसने भूख को  
विकास का ताज बना दिया।



# राजनीति की भूख बनाम भूख की राजनीति

◀ सचिन कुमार जैन\*

यह हमारी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था गर्व करती है कि हम विदेशों से कंपनियों को यहां ला कर उन्हें अपनी जमीनें बेच कर विदेशी मुद्रा भण्डार बढ़ा रहे हैं। सरकार किसानों को कर्जदार बनाने में गर्व महसूस करती है। वह किसानों के नाम पर बजट में कर्जे की व्यवस्था करती है ताकि किसानों पर सरकार का शिकंजा कसा रहे और जब चाहे तब उनकी जमीनें नीलाम कराई जा सकें। आत्महत्याओं की सबसे बड़ी वजह कर्ज है। कर्ज के कारण आत्महत्याएं करने वालों में 5 हजार से 2 लाख के राशि के कर्जदार ज्यादा होते हैं। 82 फीसद से ज्यादा इसी दायरे में होते हैं, जबकि इन पर कुल 36 फीसद कर्ज है। दूसरी तरफ 1 करोड़ से 1000 करोड़ की राशि के कर्जदारों में से कभी किसी ने आत्महत्या नहीं की क्योंकि समाज, व्यवस्था और राजनीति में उनके लिए एक मददगार व्यवस्था (सपोर्ट सिस्टम) होती है, जो उन्हें ना केवल कानून से बचाती है, बल्कि संकट से उबरने के लिए रियायत की भी व्यवस्था करती है। पर जब किसानों या किसी मजदूर के लिए रियायत और सपोर्ट की बात आती है तो बहुत से सूक्ष्म सूचक तय किये जाते हैं, जैसे कर्ज उसी का माफ़ होगा जो 5 एकड़ से कम जमीन रखता हो। ऐसे सूचक सरकार यह जानते हुए बनाती है कि आत्महत्या करने वाले किसान 10 एकड़ जमीन वाले हैं क्योंकि छोटे-छोटे किसानों को तो बैंक कर्ज देती ही नहीं हैं। दूसरी बात यह भी नज़रअंदाज़ कर दी जाती है कि संस्थागत कर्ज 5 एकड़ वाले किसान को मिलता ही कितना है! कर्ज देने वाली संस्थाएँ तो यह पहले देखती हैं कि कर्ज लेने वाले की औकात चुकाने की भी है या नहीं। मतलब साफ़ है कि वंचितों के लिए व्यवस्था ऐसे चलाओ कि अहसास बना रहे कि राज्य उनकी चिंता कर रहा है। ऐसा करते हुए सरकार मध्यम वर्ग को वंचितों के खिलाफ खड़ा करती रहती है, क्योंकि मध्यम वर्ग को लगता है कि हमारे आयकर को सरकार यूँ ही बांटती रहती है।

\*सचिन कुमार जैन, विकास संवाद, भोपाल से संबद्ध हैं।

भारत के वित्तमंत्री हर साल बजट बनाने और संसद में बजट पेश करने से पहले बहुराष्ट्रीय और देश के औद्योगिक घरानों के दरबार में क्यों पेश होते हैं या फिर उनके लिए दरबार क्यों सजाते हैं? इन दरबारों में उद्योगपति और पूंजीवादी सरकार के उस नुमाइंदे को विकास और देश की प्राथमिकताओं पर ज्ञान देते हैं, जिनसे कुछ खास व्यक्तियों और वर्गों को फायदा होता है। इन्हीं बैठकों से कृषि और असंगठित क्षेत्रों के लोगों में असुरक्षा की भावना बढ़ती है। इन्हीं बैठकों में बड़े उद्योगों और बाजारी सेवा के पुरोधाओं ने वित्तमंत्रियों को समझाया है कि विकास के मामले में खेती घाटे का सौदा है। यदि सरकार खेती के बजाये कंपनियों को रियायतें और सुविधाएं दे तो देश का ज्यादा विकास होगा। भारत में 70 फीसद छोटे और मझोले किसान हैं। कुल कामगारों में से 93 फीसद असंगठित क्षेत्र में हैं, सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा भारत के विकास में बड़ी चुनौतियां हैं, पर इन क्षेत्रों के प्रतिनिधियों से मिलने और उनकी बात सुनने की जरूरत वित्तमंत्री नहीं महसूस करते हैं। हर साल सरकार बाजार को 1.50 से 2 लाख करोड़ रुपए की रियायतें और सुविधाएं देती रही, पर यह क्षेत्र केवल 21 प्रतिशत जनसंख्या की जरूरतों को पूरा करता है जबकि खेती से अब भी 62 फीसद लोग आजीविका की जरूरत को तो पूरा करते ही हैं, साथ ही देश में खाद्य सुरक्षा को भी सुनिश्चित करते हैं। पर उनके लिए रियायतें नहीं, बल्कि सरकारी और निजी कर्जे की नीतियां बनायी जाती हैं। हर साल रियायतें देने के बाद भी बाजार के कुछ खास घरानों को फायदा पहुंचाने के लिए देश के कानून और नीतियों को बदल दिए जाता है। इसके बावजूद वर्ष 2008 में मंदी के नाम पर कंपनियों को 50000 करोड़ के बेल आउट पैकेज दिए गए। जो थोड़ा-बहुत सरकार को कंपनियों से मिला था वह भी उन्होंने वापस ले लिया। हमारा किसान तो हर साल सूखे या बाढ़ से दो-चार होता है पर मजाल है कि उस तक सरकार की मदद पहुंच जाए। मध्यप्रदेश में जब किसान की बुआई असफल हो जाती है तो उसे 1200 रुपए प्रति एकड़ के हिसाब से मुआवजा देना तय किया गया है। और तो और यह भी मिल पाना अपने आप में किसानों के जीवन की सबसे बड़ी चुनौती है।

रामालिंगा राजू ने सत्यम में 8000 करोड़ का घोटाला किया। यह एक निजी कंपनी है, पर सरकार उसे बचाने में लगी रही—क्यों? बाजार के पक्ष में बातें करने वाले विचारक यह सिद्ध करने में लगे रहे कि यह तो एक घटना है, इससे पूंजीवाद पर शक नहीं करना चाहिए। जब स्वयं सहायता समूह या पंचायत में भ्रष्टाचार की कुछ छिट-पुट घटनाएं हो जाती हैं तो उस पूरे ढाँचे पर सवाल खड़े कर दिए जाते हैं। सरकार से कोका कोला कहती है कि पानी के स्रोतों पर पंचायतों के अधिकार नहीं होने चाहिए, वह भ्रष्ट संस्था है। वास्तविकता यह है कि कंपनियों को सरकार को साधना आसान लगता है, और पंचायतों को साधना कठिन, क्योंकि वहां गांव के लोग होते हैं और विकास को ठोस राजनीतिक नजरिए से देखते हैं, इसीलिए वह संसाधनों के केन्द्रीयकरण और निजीकरण की वकालत करती है। मौजूदा भारत में

विकास की परिभाषा और निर्णय की प्रक्रिया से उसी गांव और समाज को बाहर कर दिया गया है जिसका विकास किये जाने के लिए सारा घमासान मचा हुआ है। समाज में यही माना जाता है कि सम्मानजनक जीवन के नज़रिए से राजनीति करना अच्छा काम नहीं है, यह तो कीचड़ है। इस विश्लेषण के विरोधाभास को पहचानना होगा। पिछले 20 वर्षों में हमारी संसद और विधानसभा में कौन लोग जा रहे हैं ? इस बार की संसद में 300 सदस्य करोड़पति हैं। 170 सदस्य ऐसे हैं जिनकी संपत्ति और आय में 300 से लेकर 3000 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। कई सदस्य बाकायदा बड़े उद्योग परिवारों से सम्बन्ध रखते हैं, और 70 सदस्य उन परिवारों के बेटे, बहू, दामाद, साले, बहन और बेटियाँ हैं जो पिछले 60 सालों से राजनीति कर रहे हैं। अब सवाल यह है कि राजनीति खराब चीज़ है तो इसी एक समाज के लोग चुनावी राजनीति की जद्दोजहद में क्यों फंसे हैं! छात्रों, मध्यमवर्गीय युवाओं, किसानों और महिलाओं को राजनीति में आने से रोकने के लिए सुनियोजित तरीके से बताया जाता है कि राजनीति तो कीचड़ है। परिणाम सामने है कि जो हमारा प्रतिनिधित्व करते हैं न तो वे किसान हैं न उन्होंने युवापन को समझा है, न उन्होंने गरीबी से साक्षात्कार किया है, न लिंगभेद को भोगा है और न ही सामाजिक असामनता को व्यापक रूप में महसूस किया है। समाज की राजनीति की विसंगतियों को दूर करने के लिए जिस राजनीतिक सक्रियता की जरूरत है, उसे निष्क्रिय कर दिया गया है, ताकि एक बार फिर पूंजीवादी, उद्योगपति, फिल्म अभिनेता नीतियों—कानूनों के निर्माण की प्रक्रिया साथ—साथ समाज के प्रशासनिक ढांचे पर अपना नियंत्रण कर लें और अपने हितों के मुताबिक सरकार चलायें।



# आधुनिक सभ्यता का संकट

« सुनील\*

अनुमान है कि पिछली शताब्दी के अंत में दुनिया भर में करीबन 79 करोड़ लोग भूखे पेट सोते-जागते रहे होंगे। नवम्बर 1996 में सम्पन्न विश्व खाद्य सम्मेलन में इसे मानवता पर कलंक माना गया और संकल्प लिया गया कि 2015 तक इस संख्या को आधा कर लिया जाएगा। 2002 में फिर विश्व खाद्य सम्मेलन हुआ। पता चला कि भूखों की दुनिया छोटी होने के बजाय बड़ी हो गई है। जून 2009 के पहले हफ्ते में संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य एवं कृषि संगठन ने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव बान की-मून ने इस सम्मेलन में बताया कि ताजे खाद्य संकट ने दुनिया के 10 करोड़ नए लोगों को भुखमरी की गोद में ढकेल दिया है। दुनिया के 85 करोड़ लोग पहले से भूख से पीड़ित हैं। यानी दुनिया का हर सातवां व्यक्ति भूख और कुपोषण का शिकार है। इनमें से लगभग 80 करोड़ गरीब देशों में रहते हैं। आज युद्ध से ज्यादा लोग भूख से मरते हैं। दुनिया के 62 देशों की हालात नाजुक है। हैती, कैमरून, बुरकीनाफासो, सेनेगल, मिस्र, बांग्लादेश आदि देशों में भोजन को लेकर दंगे और संघर्ष हुए हैं। लातीनी अमरीका के कैरीबियन देश हैती से रिपोर्ट आई है कि वहां लोग मिट्टी खाकर अपना पेट भर रहे हैं (द हिन्दू, 30 जुलाई 2008)। भूख और कुपोषण से ठीक उल्टा, दुनिया के कुछ लोगों में मोटापे की समस्या बढ़ती जा रही है। जरूरत से ज्यादा खाने से होने वाली बीमारियों (जैसे मधुमेह, हृदय रोग, कुछ तरह के कैंसर, ओस्टेओपोरोसिस, अपच आदि) में तेजी से वृद्धि हो रही है। अमीर देशों में मोटापे का यह गंभीर रोग चिंता का विषय बन गया है। विश्व खाद्य संगठन ने वर्ष 2000 में मोटापे को 'वैश्विक महामारी' बताया था। संयुक्त राज्य अमरीका में अब 65 प्रतिशत लोगों का वजन सामान्य से ज्यादा है और 30 प्रतिशत अत्यधिक मोटापे के शिकार हैं। यह संख्या पिछले 25 वर्ष में दुगुनी हो गई है। वर्ष 2003 में संयुक्त

\*सुनील भाई समाजवादी जनपरिषद के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष हैं और मध्यप्रदेश के केसला (होशंगाबाद) में रहते हैं।

राज्य अमरीका के महाशाल्यचिकित्सक ने चेतावनी दी थी कि यदि ऐसा ही चलता रहा, तो वहां धूम्रपान से जितने लोग मरते हैं, उतने ही मोटापे से मरने लगेंगे। भूख और मोटापे का यह तीखा द्वन्द्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और आधुनिक सभ्यता की एक उपज भी। एक ही साथ इतनी बड़ी संख्या में भूखे और कुपोषित लोग और इतनी बड़ी संख्या में मोटे लोग दुनिया के इतिहास में कभी नहीं रहे हैं। हम इस खुशफहमी में थे कि दुर्भिक्ष, अकाल और महामारियों पर हमने विजय पा ली है और ये सब अतीत की चीजें रह गई हैं। लेकिन दुनिया में बड़े पैमाने पर खाने का संकट एक बार फिर पैदा हो गया है। वर्ष 2007 के प्रारंभ से अनाज की कीमतों में अचानक काफी उछाल आया है। अनाज के भंडार बहुत कम हो गए हैं। ऐसा भी नहीं है कि दुनिया में अनाज की इतनी कमी है। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य एवं कृषि संगठन ने कुछ समय पहले बताया था कि पूरी दुनिया को खिलाने के लिए जितने अनाज की जरूरत है, उससे डेढ़ गुना अनाज दुनिया में पैदा हो रहा है। वर्ष 1950 से 1990 के बीच दुनिया का अनाज उत्पादन तीन गुना हो गया है, जबकि इस बीच दुनिया की आबादी दुगने के लगभग बढ़ी है। उसके बाद जरूर अनाज उत्पादन की वृद्धि की दर कम होती हुई ठहर गई है। विश्व स्तर पर प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन 1961-65 की अवधि में 271 कि.ग्रा. था, जो बढ़ता हुआ 1981 से 85 की अवधि में 334 कि.ग्रा. हो गया। उसके बाद से इसमें गिरावट शुरू हुई और 2001-05 की अवधि में 310 कि.ग्रा. रह गया। दुनिया भर में खाद्यान्न की ताजी स्थिति को समझने के लिए दो बातों पर गौर करना होगा। एक तो यह कि पर्याप्त अनाज होते हुए भी लोग भूखे क्यों हैं? यह अनाज कहां जा रहा है? दूसरा, अनाज उत्पादन की दर इतनी कम क्यों होती जा रही है? उसमें ठहराव क्यों आ रहा है?

औद्योगिक क्रांति के दो सौ साल बाद, विज्ञान एवं तकनालॉजी की चमत्कारिक प्रगति के बावजूद, आधुनिक विकास की हैरत भरी दौड़ के बाद भी, आज दुनिया भोजन के संकट में फंसी है। भूख और भोजन को लेकर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन करना पड़ रहा है। हाल ही में हुई ताकतवर देशों के समूह जी-8 की बैठक का भी प्रमुख मुद्दा खाद्य व ऊर्जा संकट ही था। पिछले जुलाई माह में जेनेवा में विश्व व्यापार संगठन की वार्ताएं टूट गईं और बेनतीजा रहीं, तो वह भी कृषि व्यापार से जुड़े मतभेदों पर ही टूटीं। विश्व व्यापार संगठन की दोहा वार्ताओं की गाड़ी बार-बार खेती से सम्बन्धित मुद्दों पर ही अटक रही है। अब इन वार्ताओं के पटरी पर वापस आने की उम्मीद बहुत कम है। इसी के साथ तेल की कीमतें और ऊर्जा का संकट भी पूरी दुनिया के लिए बड़ी समस्या बना हुआ है। दुनिया के ज्यादातर झगड़े, संघर्ष, आंदोलन, विवाद और मतभेद तेल, खनिज, ज़मीन और पानी को लेकर हो रहे हैं। जलवायु-परिवर्तन और धरती गरम होने से पैदा होने वाला संकट भी हमारी नींद हरा कर लिए हुए है। इसका मतलब है कि जबरदस्त औद्योगिकीकरण, चमत्कारिक विकास और तमाम प्रगति के बावजूद प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों से जुड़ी नयी-नयी समस्याएं पैदा हो रही हैं, सीमाएं दिख रही हैं और संकट खड़े हो

रहे हैं। कुदरत को जीतने, अपना गुलाम बनाने और रौंदने का आधुनिक मानव सभ्यता का घमंड धीरे-धीरे चूर होता जा रहा है।

### **फसलें इंसानों के नहीं, वाहनों के पेट में!**

कुछ लोग कह रहे हैं कि आस्ट्रेलिया, यूक्रेन आदि कुछ देशों में पड़े सूखे, अनाज के सट्टा व्यापार या तेल की कीमतों में वृद्धि इस संकट के कारण हैं। यानी यह संकट तात्कालिक है। तात्कालिक कारणों के दूर होते ही यह संकट भी दूर हो जाएगा। लेकिन यह सच नहीं है। इस संकट के पीछे वे ज्यादा बुनियादी एवं दीर्घकालीन प्रवृत्तियाँ हैं, जो दुनिया के कृषि विकास, कृषि व्यापार, खाद्य अर्थव्यवस्था और अमीरों के अंतहीन उपभोग वाली आधुनिक जीवन-शैली में पिछले काफी समय से विकसित हो रही है।

ताजा खाद्यान्न संकट के पीछे जैव ईंधन का बढ़ा हाथ है। डीजल या इथेनॉल बनाने के लिए अनाज, खाद्य तेलों और खेती की जमीन का इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। जून माह में रोम के जिस विश्व खाद्य सम्मेलन का जिक्र ऊपर आया है, उसमें चर्चा एवं विवाद का प्रमुख केन्द्र बिन्दु जैव-ईंधन ही था। खाद्य एवं कृषि संगठन ने भी इसे ही खाद्य संकट का एक प्रमुख कारण माना था। सम्मेलन जैव-ईंधन के खिलाफ प्रस्ताव पास करने की तैयारी भी थी, लेकिन अमीर देशों और उनकी कंपनियों के ताकतवर निहित स्वार्थों के कारण ऐसा नहीं हो पाया।

आज दुनिया भर में प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन घटकर 310 कि.ग्रा. रहा गया है। परन्तु यह भी पूरा का पूरा मनुष्य के भोजन के लिए उपलब्ध नहीं है। इसका बड़ा हिस्सा जैव ईंधन के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। सिर्फ संयुक्त राज्य अमरीका में जैव-ईंधन के लिए इस्तेमाल किया जा रहे मक्का का हिसाब निकाला जाए, तो यह घटकर लगभग 300 कि.ग्रा. रह जाता है, जो कि 1966-70 के बाद की सबसे कम मात्रा है। संयुक्त राज्य अमरीका में 2007-08 में जितना मक्का पैदा हुआ, उसका एक-चौथाई जैव-ईंधन बनाने में इस्तेमाल हुआ है। अनुमान है कि इस वर्ष 2008-09 में यह मात्रा एक तिहाई हो जाएगी। संयुक्त राज्य अमरीका में जैव-ईंधन के लिए इस्तेमाल किया जा रही यह मक्का दुनिया के अनाज व्यापार के एक तिहाई और अनाज उत्पादन के 5 प्रतिशत के बराबर है। संयुक्त राज्य अमरीका में सरकार द्वारा जैव-ईंधन बनाने के लिए काफी अनुदान दिया जा रहा है। इसी तरह, यूरोपीय संघ ने तय किया है कि वर्ष 2010 तक उसके यातायात के लिए 5.75 प्रतिशत ईंधन तथा 2020 तक 10 प्रतिशत ईंधन जैविक स्रोतों से मिलना चाहिए। अमरीका-यूरोप के जैव-ईंधन पर जोर का असर पूरी दुनिया पर पड़ रहा है। ब्राजील, मलेशिया, इंडोनेशिया, फिलीपीन जैसे देश बड़ी मात्रा में जैव-ईंधन के निर्यात में जुट गए हैं। मक्का के अलावा सोयाबीन, पाम तेल, सूरजमुखी, रेपसीड, गन्ना आदि से जैव-ईंधन बनाया जा रहा है। भारत जैसे देशों में रतनजोत

(जेट्रोफा) से डीजल बनाने के कारखाने डाले जा रहे हैं और रतनजोत लगाने के लिए हजारों—लाखों एकड़ जमीन कंपनियों को आवंटित की जा रही है। यह बताया जा रहा है कि यह बंजर भूमि है, किंतु असलियत यह है कि खेती, निस्तार या सामुदायिक उपयोग के रूप में यह भूमि ग्रामीण गरीबों के जीवन का आधार है। कुल मिलाकर, अमीरों की कारों में ईंधन की कमी न हो, इसके लिए दुनिया के गरीबों के मुंह का कौर छीना जा रहा है। वर्ष 1987 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी एक रपट में टिकाऊ विकास के लिए जैव-ईंधन का इस्तेमाल करने की सिफारिश की थी। फिर रियो डी जेनीरो में भी संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आयोजित सम्मेलन में जलवायु-परिवर्तन व धरती गरमाने से रोकने के एक प्रमुख औजार के रूप में जैव-ईंधन की भूमिका को स्वीकार किया गया था। संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोपीय संघ भी इसके पीछे यही दलील देते हैं कि इससे ऊर्जा की बचत होगी, वायुमंडल में छोड़ी जाने वाली ग्रीनहाउस गैसों में कमी होगी और पर्यावरण की रक्षा होगी। यह ठीक है कि गाड़ी में पेट्रोल-डीजल की जगह जैव-ईंधन के इस्तेमाल से कार्बन डाई आक्साइड कुछ कम निकलती है, किन्तु यह एक अधूरा सच है। जैव-ईंधन फसलों की खेती में इस्तेमाल किए जाने वाले उर्वरकों, कीटनाशकों, ट्रैक्टरों-हार्वैस्टरों, डीजल, बिजली, पानी आदि का हिसाब लगाया जाए, फिर कच्चे माल को कारखाने तक तथा तैयार जैव-ईंधन को कारखाने से उपभोक्ताओं तक पहुंचाने में लगी ऊर्जा तथा कारखाने में लगी ऊर्जा का भी हिसाब लगाया जाए, तो पता चलेगा कि कोई विशेष बचत नहीं हुई, बल्कि कुछ मामलों में ज्यादा ऊर्जा खर्च हो गई। इसके साथ ही जैव ईंधन की फसलें उगाने के लिए दुनिया के कई हिस्सों में जंगल साफ किए जा रहे हैं। ब्राजील में सोयाबीन एवं गन्ने की बढ़ती हुई नई मांग के लिए अमेजन के घने जंगलों को साफ करने की गति बढ़ गई है। सन् 2007 के अंतिम छह महीनों में ब्राजील के 3000 वर्ग कि.मी. से अधिक जंगलों का नाश हो गया। इसी तरह, मलेशिया और इंडोनेशिया में पाम के बगीचे लगाने के लिए जंगल काटे जा रहे हैं। अब उनकी गति भी बढ़ जाएगी। जैव ईंधन में सबसे बड़ा सवाल जमीन का ही है। यूरोपीय संघ ने 2010 तक अपने यातायात के ईंधन की 5.75 प्रतिशत आपूर्ति जैव ईंधन से करने का जो फैसला किया है और जो उसके कुल ऊर्जा इस्तेमाल का मात्र 1.7 प्रतिशत होगा, उसके लिए 1.7 करोड़ हेक्टेयर भूमि की जरूरत होगी। चूंकि यूरोप में इतनी भूमि नहीं है, इसलिए बाहर के देशों में यह खेती करवाई जाएगी। यह नव-उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का एक और कदम है।

### चन्द अमीरों के लिए पशुपालन का औद्योगिकीकरण!

दरअसल, आज के ये संकट, चाहे वह खाद्य संकट हो, ऊर्जा संकट हो या पर्यावरण का संकट, असल में दुनिया के सीमित संसाधनों के उपयोग, नियंत्रण व बंटवारे के संकट हैं। इन संकटों का हल मात्र तकनालॉजी से नहीं हो सकता। अमरीका-यूरोप

के लोग अपने ऐशो-आराम में कटौती नहीं करना चाहते हैं और इसके लिए नए-नए रास्ते ढूँढ़ रहे हैं। इसी चक्कर में वे पूरी दुनिया के लिए नयी-नयी मुसीबतें खड़ी कर रहे हैं। संकट के इस बुनियादी आयाम को न देखने के कारण ही एक संकट (ऊर्जा संकट या पर्यावरण संकट) का हल निकालने में नया विश्वव्यापी संकट (खाद्य संकट) खड़ा हो जाता है। दुनिया के अमीरों के विलासितापूर्ण उपभोग का एक और पहलू खाद्य संकट से जुड़ा है, जिसकी ओर लोगों का कम ध्यान गया है। पिछले पचास वर्षों में खेती, जमीन और अनाज का ज्यादा हिस्सा मनुष्य के भोजन में लगने के बजाय पशुपालन और पशुआहार में लग रहा है। दुनिया भर में पशु-उत्पादों में काफी तेजी से वृद्धि हो रही है। यह कृषि उत्पादन से काफी ज्यादा है। वर्ष 1950 से अभी तक मांस उत्पादन लगभग पांच गुना हो चुका है। प्रति व्यक्ति औसत मांस की खपत दुगुनी से ज्यादा हो चुकी है। इसी अवधि में प्रति व्यक्ति अंडा व मछली उत्पादन लगभग दुगुना हो चुका है। इसी तरह दूध व दुग्ध उत्पादों में भी काफी वृद्धि हुई है। दुनिया के कुल खाद्य उत्पादन में पशु-उत्पादों का हिस्सा बढ़कर 37 प्रतिशत हो गया है। यह अभूतपूर्व घटना है। विडंबना यह है कि इस पशुपालन क्रांति ने दुनिया के खाद्य संकट को कम करने में मदद करने के बजाय बढ़ाया है। आधुनिक पशुपालन उस पारम्परिक, विकेंद्रित, गांव-जंगल-खेत आधारित पशुपालन से काफी अलग है, जिसमें पशुओं को जंगलों में, चारागाहों में या खाली खेतों में (फसलों के बीच की अवधि में) चराया जाता था। खेती, मनुष्य के भोजन और पशु-आहार में कोई टकराव नहीं था। खेती व पशुपालन परस्पर एक-दूसरे की पूरक गतिविधियां थीं। लेकिन अब तो मुर्गी, सुअर, गाय या मछली के आधुनिक फार्म होते हैं, जहां छोटी-सी जगह में हजारों की संख्या में उन्हें पाला जाता है। उन्हें सीधे अनाज, तिलहन और अन्य पशुओं का मांस ठूस-ठूस कर खिलाया जाता है, ताकि चंद दिनों में उनसे ज्यादा से ज्यादा मांस, अंडे या दूध प्राप्त हो सके। उनका हरा चारा भी अब सीधे खेतों में एक फसल के रूप में पानी, रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाइयों के भारी उपयोग के साथ उगाया जाता है। मक्का और सोयाबीन की खेती का जो इतनी तेजी से विस्तार हुआ है, और उनका उत्पादन तेजी से बढ़ा है, वह भी मुख्य रूप से इसी आधुनिक पशुपालन के लिए ही है। सत्तर के दशक के बाद सोयाबीन का रकबा ही सबसे ज्यादा बढ़ा है। अमरीका में आज पैदा होने वाला 70 प्रतिशत से ज्यादा अनाज पशुओं को ही खिलाया जाता है। वहां 7 कि.ग्रा. मक्का खिलाकर 1 कि.ग्रा. गोमांस तैयार किया जाता है। 6.5 कि.ग्रा. मक्का से 1 कि.ग्रा. सुअर का मांस तैयार होता है तथा 2.6 कि.ग्रा. मक्का से 1 कि.ग्रा. चिकन का मांस तैयार होता है।

जब दुनिया के बड़े हिस्से में बड़ी संख्या में लोग भूख और कुपोषण के शिकार हो रहे हैं, तब अनाज को पहले पशुओं को खिलाना और फिर उससे मांस, अंडे या दूध तैयार करके थोड़े से अमीर लोगों को परोसना अपने-आप में अन्यायपूर्ण तो है ही, भोजन तैयार करने का अकुशल एवं फिजूलखर्ची वाला तरीका भी है। इस आधुनिक



औद्योगिक पशुपालन के तरीके से भोजन तैयार करने के लिए काफी ज्यादा जमीन और संसाधनों की जरूरत होती है। अंदाजा है कि दुनिया की लगभग आधी कृषि भूमि पशुआहार तैयार करने में लगी हुई है। यदि इसमें चराई के लिए सुरक्षित रखी जाने वाली भूमि को भी जोड़ लिया जाये तो यह आंकड़ा दो-तिहाई हो जाता है। भूमि के अलावा अन्य संसाधनों की भी इसकी मांग काफी ज्यादा है। अनुमान लगाया गया है कि फैक्टरीनुमा पशु फार्मों से तैयार होने वाले मांस-प्रोटीन में वनस्पति प्रोटीन के मुकाबले 100 गुना ज्यादा पानी तथा 8 गुना ज्यादा ऊर्जा लगती है। इस महंगे, अकुशल, अवैज्ञानिक और अप्राकृतिक पशुपालन से दुनिया भर में गैर-बराबरी व अभाव बढ़ा है और इसने भोजन का संकट और गहरा हो गया है।

अमीरों की कभी संतुष्ट नहीं होने वाली भूख, कंपनियों की मुनाफा-पिपासा और आधुनिक तकनालॉजी की विनाशलीला का एक शिकार सागरों व महासागरों की मछलियां भी हुई हैं। आज से कुछ दशक पहले कोई सोच भी नहीं सकता था कि समन्दर में जहां मछलियों का अथाह भंडार होता है, वहां मछलियां खत्म भी हो सकती हैं। लेकिन मशीनी ट्रालरों ने आज दुनिया के अनेक महासागरों में मछलियों को खत्म होने की हालत में पहुंचा दिया है और वहां मछली उत्पादन घट रहा है। अपने सागरों व महासागरों के भंडार को खत्म करके अमीर देशों के ट्रालर्स अब गरीब देशों के समन्दरों को लूटना चाहते हैं। भारत में भी मछुआरों के तीव्र विरोध के बावजूद गहरे समुद्र में मछली पकड़ने के नाम पर विदेशी ट्रालरों को घुसपैठ का मौका दिया जा रहा है। इस मामले में पश्चिम अफ्रीका के एक गरीब देश सेनेगल का उदाहरण भी आंखें खोलने वाला है। समुद्र किनारे के इस देश की गरीब जनता रोटी-रोजगार के लिए काफी हद तक मछली पर निर्भर है। उनके भोजन में प्रोटीन का 0 प्रतिशत स्रोत समुद्री मछली है। सेनेगल की आबादी में हर छठा कामकाजी व्यक्ति मछुआरा है और उनमें दो-तिहाई महिलाएं हैं। लेकिन पिछले तीन दशकों से उनकी रोजी-रोटी संकट में है। दरअसल यूरोप के ट्रालर्स अपने सागरों की मछलियाँ खत्म करने के बाद पश्चिमी अफ्रीका के समुद्र में घुस आए हैं। इससे वहां की मछलियां भी खत्म होने लगी हैं। वर्ष 1994 और 2005 के बीच वहां मछली का उत्पादन 95,000 टन से घटकर 45,000 टन रह गया है। स्थानीय मछुआरों की नौकाओं की संख्या में सन् 1997 से बाद से 48 प्रतिशत की कमी आई है। एक अध्ययन के मुताबिक मछुआरों के जो परिवार पहले दिन में तीन वक्त भोजन करते थे, अब एक या दो बार ही खाते हैं।

सेनेगल के समुद्र में यूरोपीय जहाजों को मछली पकड़ने की इजाजत सन् 1973 से सेनेगल सरकार के साथ समझौते के तहत दी गई थी। इसके दुष्परिणामों को देखते हुए सेनेगल सरकार ने सन् 2006 में इस समझौते का नवीनीकरण करने से इनकार कर दिया। इसके बावजूद यूरोपीय जहाज गैर कानूनी तरीके से सेनेगल में वहां के जहाज के रूप में पंजीयन कराके मछली पकड़ रहे हैं। दूसरी ओर, यूरोपीय संघ

विश्व व्यापार संगठन के अंतर्गत सेनेगल सहित पश्चिमी अफ्रीकी देशों पर इन समझौतों के नवीनीकरण के लिए भारी दबाव डाल रहा है और कार्रवाई की धमकी दे रहा है। उसका कहना है कि विश्व व्यापार संगठन के 'राष्ट्रीय बरताव' के सिद्धान्त के तहत कोई देश अपनी फर्मों और विदेशी कंपनियों के बीच भेदभाव नहीं कर सकता है। सेनेगल के अंदर भी कुछ अभिजात्य लोगों को इस मछली व्यापार में कुछ दलाली देकर ललचाया जा रहा है और सेनेगल सरकार को बताया जा रहा है कि मछली निर्यात से ही सेनेगल का विकास होगा। इस हालत को 'खाद्य उपनिवेशवाद' का नाम देते हुए एक लेखक ने लिखा, 'जहां पहले उन्होंने तोपों और सिपाहियों का इस्तेमाल किया था, अब अमीर देश भूखे लोगों का भोजन छीनने के लिए चेकबुक और वकीलों का इस्तेमाल करते हैं।'

आधुनिक औद्योगिक पशुपालन ने खाद्य संकट के अलावा अन्य समस्याएं भी पैदा की हैं। छोटी-सी जगह में लोहे के तारों वाले दड़बों में मुर्गियों, सुअरों, गायों को रखना, उन्हें खुला घूमने-फिरने का अवसर या हिलने-डुलने की जगह भी नहीं देना, भारी रसायनों एवं हार्मोनों से युक्त पशुआहार एवं दवाइयां देना तथा वजन बढ़ते ही बूचड़खानों में भेज देना — पर्यावरण एवं मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से तो नुकसानदेह है ही, काफी क्रूर भी है। पशुपालन के इस कृत्रिम औद्योगिक तरीके ने पिछले दिनों 'मैड काउ रोग' एवं 'बर्ड फ्लू' जैसी महामारियां पैदा की हैं, जिनसे काफी हड़कम्प मचा है। बर्ड फ्लू तो मुर्गियों-बतखों का पुराना रोग है, लेकिन अभी खतरा पैदा हो गया है कि इसका वायरस प्रजाति के बेरियर को लांघकर इंसानों को प्रभावित कर सकता है। इंसान के शरीर में इसकी प्रतिरोधक क्षमता नहीं है। इससे इंसानों में जानलेवा महामारी फैल सकती है। इसीलिए, बर्ड फ्लू की शंका होते ही लाखों मुर्गियों को मौत के घाट उतारा जा रहा है। इसी तरह मैड काउ रोग से ग्रस्त गायों का मांस खाने वाले इंसानों को भी यह रोग लग सकता है। लाखों गायों को भी ब्रिटेन में इसी रोग के कारण मारा गया है। यह रोग गायों को मृत गायों के खून, हड्डियों और अन्य अवयवों से तैयार पशु-आहार खिलाने से फैला है। इसके बाद ब्रिटेन में इस प्रथा पर प्रतिबंध लगाया गया है।

आमतौर पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को दुनिया में खाद्य आपूर्ति और खाद्य सुरक्षा बढ़ाने में सहायक बताया जाता है। रोम में हाल में हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में खाद्यान्न व्यापार के उदारीकरण की वकालत की गई। इसमें उन देशों के अंदर खाद्य-आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए खाद्यान्नों के निर्यात पर पाबंदी लगा दी है। (जैसे भारत ने गैर-बासमती चावल के निर्यात पर कुछ माह पहले रोक लगा दी है)। लेकिन सच यह है कि खाद्य-सामग्री के आयात और निर्यात दोनों ने गरीब देशों के खाद्यान्न संकट को बढ़ाया है। पिछले काफी समय से विश्व बैंक और मुक्त व्यापार के अन्य समर्थक, गरीब देशों को 'निर्यात आधारित विकास' की घुट्टी पिला रहे हैं। भारत सरकार भी उसी की माला जप रही है। खेती में भी उन फसलों तथा उस तरह के

पशुपालन पर जोर दिया जा रहा है, जिनकी अमीर देशों में मांग है। इस चक्कर में गरीब देश के लोगों की खाद्य जरूरतों की उपेक्षा हो रही है। सेनेगल का जो उदाहरण ऊपर दिया है, उसको मछली निर्यात बढ़ाने और विदेशी मुद्रा कमाने के नाम पर जायज ठहराया जाता है। भारत में भी झींगा मछली, फूल, सोयाबीन, कोको, काजू, बासमती चावल आदि निर्यात-फसलों को बढ़ावा दिया जा रहा है, जबकि देश के अंदर प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि कम होती जा रही है। हमारे सीमित संसाधनों का इस्तेमाल विदेशी अमीरों के लिए होता है। इस प्रकार की खेती बहुत महंगी भी होती है, और उससे पर्यावरण पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। एक पर्यावरण समूह की हाल ही में आई रपट में बताया गया है कि कैसे ब्रिटेन के लोग अपने भोजन में दुनिया के कई हिस्सों के पानी का अप्रत्यक्ष तरीके से उपभोग करते हैं। पाकिस्तान की सिंधु घाटी में वहां की सबसे उपजाऊ व सिंचित कृषि भूमि है। लेकिन इस भूमि और वहां के पानी का भारी इस्तेमाल अंग्रेजों के लिए बासमती चावल व कपास पैदा करने के लिए हो रहा है। वहां भूजल का स्तर तेजी से गिर रहा है तथा मरुस्थलीकरण बढ़ रहा है। अंग्रेजों की थाली खुशबूदार व्यंजनों से सजती है और उसकी कीमत पाकिस्तान की जनता को चुकानी पड़ती है। अफ्रीका के बड़े हिस्से में फ्रांस व अन्य यूरोपीय देशों के लिए मूंगफली व अन्य नकदी फसलों की खेती ने पिछली एक-डेढ़ सदी में वहां की देशी अन्न की खेती और वहां के पर्यावरण दोनों को नष्ट करने का काम किया है। अफ्रीका के अकालों में इस औपनिवेशिक व्यापार की बड़ी भूमिका रही है। ऐसा लगता है जैसे गरीब देशों में अमरीका-यूरोप-आस्ट्रेलिया-कनाडा से सस्ते अनाज के आयात से तात्कालिक रूप से तो लोगों का पेट भरने में मदद मिलती है, लेकिन वास्तव में लंबे समय में इसने वहां के खाद्य स्वावलंबन को नष्ट करने का काम किया है। अमरीका-यूरोप अपने कृषि उत्पादकों को और कृषि व्यापार करने वाली कंपनियों को जितना भारी अनुदान देते हैं वह साधारणजनों की कल्पना से परे है और किसी भी अर्थशास्त्री सिद्धान्त व तर्क के विपरीत है। गरीब देशों को अनुदान आधारित अर्थव्यवस्था को बंद करने का उपदेश देने वाली अमीर देशों की सरकारों और अर्थशास्त्रियों का दोहरा व दोगला चेहरा इससे उजागर होता है। विश्व व्यापार संगठन बनने के बाद से अमीर देशों के कृषि अनुदान कम होने के बजाय और ज्यादा बढ़े हैं। दुनिया के अमीर देश करीब 300 अरब डॉलर से ज्यादा सालाना कृषि अनुदान देते हैं। इन भारी अनुदानों के कारण उनके कृषि उत्पाद दुनिया के बाजार में बहुत सस्ते हो जाते हैं। गरीब देशों के किसान इससे प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाते हैं और बरबाद होते जाते हैं। विश्व व्यापार संगठन की वार्ताएं बार-बार असफल हो रही हैं और वार्ताओं का दौर काफी मुसीबत में पड़ गया है। उसका प्रमुख कारण दुनिया के कृषि व्यापार का यह बुनियादी असंतुलन और इसके कारण पैदा हो रही दिक्कतें हैं। यूरोप अपने चीनी उत्पादकों को अंतर्राष्ट्रीय कीमतों से चार गुनी कीमत देता है, जिससे वहां 40 लाख टन अतिरिक्त चीनी पैदा होती है। फिर इसे 100 करोड़ डॉलर के सालाना निर्यात के

अनुदान के साथ दुनिया के बाजार में बेचा जाता है। नतीजा यह है कि काफी महंगे चीनी उत्पादन के बावजूद यूरोप दुनिया का दूसरे नम्बर का चीनी निर्यातक बना हुआ है और अन्य चीनी-निर्यातक/उत्पादक देशों के किसानों को काफी नुकसान उठाना पड़ रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका में जितने मूल्य की कपास पैदा होती है, लगभग उतने ही मूल्य (470 करोड़ डॉलर) का अनुदान वहां की सरकार देती है। वहां के सस्ते कपास के कारण अफ्रीका के माली, बेनिन, चाड, बुरुकिना फासो जैसे देशों के कपास-किसानों की हालत खराब हो गई है। संयुक्त राज्य अमरीका ने 2003 में चावल की खेती के लिए 130 करोड़ डॉलर का अनुदान दिया, जो कुल मूल्य का 72 प्रतिशत था। थाईलैण्ड और वियतनाम की तुलना में वहां चावल पैदा करने की लगत दुगुनी आती है, लेकिन अनुदानों के दम पर वह दुनिया का तीसरे नम्बर का चावल निर्यातक देश बना हुआ है। इसी तरह अमरीका दुनिया के बाजार में गेहूं लागत से आधे दामों पर और मक्का 20 प्रतिशत कम दाम पर बेचता है। यूरोपीय संघ के देश औसतन एक गाय को पालने के लिए दो डॉलर रोज (यानी 95 रुपये) का अनुदान देते हैं, जबकि भारत के 78 प्रतिशत लोग 20 रुपये रोज से भी कम पर गुजारा करते हैं।

अनुदानों के इस खेल से स्पष्ट है कि अमीर देशों को खेती में किसी तरह का तुलनात्मक लाभ प्राप्त नहीं है। तमाम प्रयास और आधुनिकतम तकनालॉजी के बावजूद वहां की खेती काफी महंगी व अकुशल है। भारी अनुदानों के बगैर यह खेती चल नहीं सकती। जो लोग भारत सहित गरीब देशों के किसानों व वहां की खेती को अकुशल व पिछड़ा बताते हैं, उन्हें इस तथ्य पर गौर करना चाहिए। यह भी साफ है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अर्थशास्त्र की किताबों के तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्तों से नहीं चलता। इसके पीछे राजनीतिक व कूटनीति ज्यादा होती है। इतना भारी अनुदान देकर, इतनी महंगी व अकुशल खेती को पालकर, अमीर देश क्यों दुनिया की खाद्य-आपूर्ति और कृषि व्यापार पर अपना नियंत्रण रखना चाहते हैं इसका उत्तर भी दुनिया की मौजूदा राजनैतिक स्थिति में ही खोजना पड़ेगा। दरअसल दुनिया के खाद्य व्यापार व खाद्य-आपूर्ति पर नियंत्रण दुनिया की महाशक्तियों का एक साम्राज्यवादी औजार है। गरीब देशों के खाद्य स्वावलंबन को नष्ट करना साम्राज्यवाद का एक एजेण्डा है। हथियार, तेल व अनाज—इनके व्यापार पर जिसका वर्चस्व होगा, वही दुनिया का सिकन्दर होगा, इसको ये महाशक्तियां अच्छी तरह जानती हैं। कृषि उपज एवं खाद्यान्नों का व्यापार अमीर देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों का एक बढ़ता हुआ प्रमुख धंधा है और उनके मुनाफों का बढ़ता हुआ स्रोत भी। कृषि उपजों, तैयार खाद्य वस्तुओं, बीजों, रासायनिक खादों, कीटनाशक दवाइयों, आदि के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के बड़े हिस्से पर इन देशों की चंद कंपनियों का एकाधिकारी वर्चस्व है। जैव-तकनालॉजी के बढ़ते हुए उपयोग और उसके पेटेन्टनुमा अधिकारों ने इन कंपनियों को अपना मुनाफा और ज्यादा बढ़ाने का मौका दिया है। इसलिए कृषि और बौद्धिक सम्पदा अधिकारों को विश्व व्यापार

संगठन के दायरे में लाया गया है। पहले कीमतें गिराकर सस्ते आयात से दुनिया के देशों का खाद्य स्वावलंबन नष्ट किया गया और उसके बाद अब कीमतें बढ़ने पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की खूब कमाई हो रही है।

## बड़ी महंगी है यह खाद्य व्यवस्था

दुनिया के खाद्य-संकट को समझने के लिए आधुनिक औद्योगिक खेती के चरित्र को भी समझना पड़ेगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि बिना भारी अनुदानों के यह खेती नहीं चल सकती। इसकी लागत बहुत बढ़ चुकी है, वह बढ़ती जा रही है। इसमें मशीनों, ईंधन, रासायनिक खाद, कीटनाशकों आदि का उपयोग बहुत बढ़ चुका है। उतना ही उत्पादन लेने के लिए उत्तरोत्तर ज्यादा रासायनिक खाद डालना पड़ता है। एकल खेती (मोनोकल्चर यानी एक ही फसल और उसकी भी गिनी-चुनी किस्में) के कारण तथा रोगों-कीटों में प्रतिरोधक शक्ति विकसित होते जाने के कारण कीट-प्रकोप बढ़ रहा है तथा ज्यादा-ज्यादा व नए-नए कीटनाशकों का इस्तेमाल करना पड़ रहा है। पानी के अत्यधिक उपयोग से जमीन में पानी नीचे जा रहा है तथा पानी निकालने की लागत बढ़ रही है। जेरेमी रेफिन नामक एक अमरीकी विद्वान् ने हिसाब लगाया है कि पहले पारंपरिक खेती में किसान श्रम या पशुश्रम के रूप में एक कैलोरी ऊर्जा खर्च करके दस कैलोरी के बराबर उपज मिलती थी, किंतु अब अमरीकी खेती में 10 कैलोरी ऊर्जा की खपत करके एक कैलोरी के बराबर उपज मिलती है।

निरंतर महंगी होती जाती एवं नई-नई पर्यावरणीय समस्याएं पैदा करने वाली ऐसी अकुशल, अवैज्ञानिक खेती पर एक न एक दिन संकट आना ही था। बताया जा रहा है कि तेल की कीमतें बढ़ने से खेती की लागत बढ़ गई है। रासायनिक खाद तथा कीटनाशकों के उत्पादन में भी पेट्रो-रसायनों व प्राकृतिक गैस का उपयोग होता है, इसलिए उनकी कीमतें भी बेतहाशा बढ़ी हैं। आखिर यह खेती तेल, बिजली व पेट्रो-रसायनों पर इतनी निर्भर कैसे हो गई? सिर्फ खेती ही नहीं, पूरी खाद्य अर्थव्यवस्था काफी ज्यादा ऊर्जा-सघन (ऊर्जा इस्तेमाल करने वाली) हो गई है। खेत में पैदा होने के बाद पैदावार के फैक्टरी में पहुंचने, प्रसंस्करण, पैकेजिंग, ठंडा रखने और उपभोक्ता के मुंह तक पहुंचने तक काफी ऊर्जा इस्तेमाल होती है। कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि अमरीका और कनाडा में औसत खाद्य-सामग्री खेत से खाने वाले के बीच 2000 से 2500 कि.मी. चल चुकी होती है। खेती में प्रयोग होने वाली वस्तुओं (जैसे रासायनिक खाद, कीटनाशक, तेल आदि) की यात्रा का हिसाब लगाया जाए, तो ये किलोमीटर काफी ज्यादा बढ़ जायेंगे। जो लोग अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने की बात करते हैं और उसके फायदे गिनाते हैं, वे कभी यह हिसाब नहीं लगाते हैं कि यह पूरी प्रक्रिया दुनिया के सीमित संसाधनों का कितना अपव्यय करने वाली है।

‘अर्थशास्त्र’ की यही सीमा है। उसमें अक्सर एक फर्म या उत्पादक (या उपभोक्ता) की ही लागत व आमदनी का हिसाब लगाया जाता है और उसमें मुनाफे को अधिकतम बनाने को ही विवेकसम्मत और सही माना जाता है। लेकिन मुफ्त में या बहुत लाभ के दामों पर, औपनिवेशिक एवं नव-औपनिवेशिक व्यवस्था के तहत, प्राकृतिक संसाधनों की जो लूट होती है, उनका अपव्यय और विनाश होता है, वह इस हिसाब में कहीं आता नहीं है। किसानों-मजदूरों का शोषण भी इस अर्थव्यवस्था के लिए मुद्दा नहीं है। दुनिया की आबादी का बड़ा हिस्सा वंचित रहता है, अभावग्रस्त व भूखा रहता है और हाशिए पर जाता है। इस अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में उसकी भी कोई जगह नहीं है। अधिक से अधिक उसे बाहरी लागत (एक्सटर्नलिटीज) कह दिया जाता है, उसे अपने मॉडल में एक बाहरी चीज माना जाता है। फर्म या कंपनी का कारोबार अर्थशास्त्र के इन सिद्धान्तों के मुताबिक हो सकता है, दुनिया इन सिद्धान्तों से नहीं चलती, प्रकृति भी अपना रास्ता बदल लेती है और तब खाद्य संकट, ऊर्जा संकट, पर्यावरण संकट जैसे नए-नए संकट पैदा होते जाते हैं। इन संकटों को समझने, उनका समाधान ढूंढने और उनको रोकने में यह अर्थशास्त्र पूरी तरह असफल रहता है। इन संकटों की बुनियाद को नहीं समझ पाने (या समझना नहीं चाहने) के कारण प्रायः इनके सतही समाधान सुझाए जाते हैं जिनसे ये संकट और बढ़ सकते हैं। जैसे यह कहा जाता है कि कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए नयी तकनीकों और टेकनालॉजी की खोज होनी चाहिए, प्रचलित टेकनालॉजी पुरानी हो गई है। जैव टेकनालॉजी और जीन-परिवर्तन बीजों को बढ़ावा देना चाहिए। भारत में भी प्रधानमंत्री और सरकार में बैठे अन्य लोग ‘दूसरी हरित क्रांति’ की बात कर रहे हैं। इसका मतलब है कि पहली क्रांति की असफलताओं से वे कोई सबक नहीं लेना चाहते हैं। कृषि विकास एवं आधुनिक खाद्य अर्थव्यवस्था की बुनियादी दिशा को वे बदलना नहीं चाहते। जीन-परिवर्तन बीजों से तो प्रकृति के विरुद्ध हिंसा बढ़ेगी, कंपनियों के मुनाफे बढ़ेंगे तथा कुछ समय बाद नए संकट भी आएंगे। इसी तरह कान्ट्रेक्ट खेती, कंपनी खेती, कृषि व्यापार का उदारीकरण जैसे सुझाए गए समाधान भी ऐसे हैं, जिससे मर्ज और बढ़ेगा।

बुश और कोण्डालीजा राइस कह देते हैं कि भारत और चीन के लोग ज्यादा खाने लगे हैं, इसीलिए यह संकट पैदा हुआ है। वे यह नहीं बताते कि खाने के मामले में और तमाम अन्य मामलों में अमेरीका व गरीब दुनिया में कितनी गैर बराबरी है। ये यह भी नहीं बताते कि दुनिया में सबसे ज्यादा प्रति व्यक्ति तेल खपत अमेरीका में ही होती है और अब सबसे ज्यादा जैव ईंधन का इस्तेमाल भी वे ही कर रहे हैं। दुनिया के वायुमण्डल में ग्रीनहाउस गैसों का सबसे ज्यादा प्रति व्यक्ति उत्सर्जन भी अमेरीका में ही होता है। दरअसल आधुनिक युग के ये संकट मूलतः एक साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, गैरबराबरी पर आधारित व्यवस्था के संकट हैं।

सभ्यता का संकट है। आधुनिक जीवन शैली, उपभोक्तावादी संस्कृति, आधुनिक विकास नीति, आधुनिक टेक्नालॉजी और आधुनिक अर्थव्यवस्था में इस संकट की जड़ें हैं। यदि संकट से मुक्ति पाना है, तो पूरी आधुनिक सभ्यता की दिशा, सोच व बनावट के बारे में गंभीरता से पुनर्विचार करना होगा और इसके विकल्प की तलाश करनी होगी। अक्सर कह दिया जाता है कि जमाना बदल चुका है, दुनिया काफी आगे बढ़ चुकी है, अब हम वापस पीछे नहीं जा सकते। सवाल है कि क्यों नहीं? यदि इतिहास के किसी चौराहे पर हमने गलत दिशा पकड़ ली है, रास्ता भटक गए हैं, अपनी मंजिल पर नहीं पहुंचेंगे, कोई शॉर्ट कट भी नहीं है, तो वापस जाकर सही रास्ता पकड़ने में शर्म कैसी? यदि पेरिस में लाखों साइकिलों से परिवहन की नई सार्वजनिक व्यवस्था लागू हो सकती है, डेनमार्क में सड़कों पर आधी भीड़ साइकिलों की होने लगी है, क्यूबा ट्रैक्टरों को छोड़कर वापस बैलों पर तथा रासायनिक खेती को छोड़कर जैविक खेती पर आ गया है, तो इसे क्या कहेंगे? पीछे जाना या भूल सुधार कर आगे बढ़ना?



## खस्ताहाल खेती ने खड़ा किया है भूख का संकट

◀ माधुरी\*

**भू**ख के भयावह विस्तार से निपटने के लिए सरकार इन दिनों राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक लाने की कवायद में लगी है, लेकिन क्या यह कानून देश के उन 77 फीसदी लोगों को भरपेट भोजन की गारंटी दे सकेगा जो कुल जमा बीस रुपए रोज कमाकर खुद को किसी तरह जिंदा इंसानों की सूची में बनाए रखने की मशक्कत में लगे हैं? क्या यह कानून आजकल के सबसे लोकप्रिय धंधे एग्रीबिजनेस उर्फ कृषि व्यवसाय के चंगुल से भूख से बिलबिलाते लोगों के लिए इतना अनाज निकाल सकेगा जिससे वे कम-से-कम अपनी दाल-रोटी कमा सकने लायक ताकत बनाए रख सकें? और क्या आज के इस संकट ने निपटने की तजबीज के पहले सरकार और समाज को साठ के दशक की हरित क्रांति की पड़ताल नहीं करना होगी?

तेजी से बढ़ती भूख का मुद्दा लगातार बदहाल होती खेती और उससे जीवनयापन कर रहे देश के साठ फीसदी किसानों की बेहाली से जुड़ा है। साठ के दशक में आई हरित क्रांति से लगाकर भूमि सुधार कार्यक्रम की असफलता, औद्योगिक क्षेत्र को छूट देते हुए कृषि का निचोड़ा जाना, सूखी खेती का तिरस्कार, आसमान छूती कृषि लागत, भूमि की उर्वरता में कमी और कार्पोरेट घरानों के हित में खेती की अनदेखी इस बदहाली के कुछ कारण हैं। रासायनिक खाद, दवाओं और संकर बीजों के दम पर हुई इस मशीनीकृत क्रांति ने मौसम की मार झेल पाने में सक्षम स्थानीय फसलों की जगह गेहूं, चावल और सोयाबीन जैसी बाजारु फसलों को बढ़ावा दिया। अस्सी के दशक में बीज, खाद, दवाओं, सिंचाई आदि में लगने वाली प्रति हेक्टेयर लागत करीब 1500 रुपए होती थी, लेकिन 2004 तक आते-आते यह करीब पांच सौ प्रतिशत बढ़कर 7700 रुपए हो गई है। इस क्रांति ने एक दौर में उत्पादन जरूर बढ़ाया, लेकिन क्षेत्रीय असमानता और गरीबी-अमीरी की गहराती खाई को जन्म

---

\*माधुरी, जागृत आदिवासी दलित संगठन के साथ जुड़ी हैं और बड़वानी (मध्यप्रदेश) में रहती हैं।



दिया। आंकड़ें बताते हैं कि खेती में लगी दो तिहाई आबादी को देश की कुल आय का केवल 17.1 प्रतिशत भाग ही मिल पाता है। दूसरी तरफ उद्योगों से चांदी काट रहे करीब एक प्रतिशत लोग सकल आय का तीस प्रतिशत तक हड़प लेते हैं। हरित क्रांति की मार्फत उत्पादन और उसमें लगने वाले संसाधनों को किसानों के हाथ से निकालने के बाद जाहिर है, कार्पोरेट हितों को अब बाजार से भारी मुनाफा कमाना था। सरकार ने भी कमाई के इस गोरखधंधे में उत्साह से सहयोग देने के लिए देश में दूसरी हरित क्रांति की घोषणा कर दी है।

पहली हरित क्रांति से उपजी गैर-बराबरी, क्षेत्रीय असमानता, बढ़ती लागत और सूखी खेती की स्थानीय व कारगर तकनीकों के प्रति उपेक्षा की भूल-चूक को सुधारने की बजाए दूसरी हरित क्रांति के नाम पर समूचे कृषि उत्पादन और वितरण को कृषि व्यापार निगमों को सौंपा जा रहा है। इस साजिश के तहत कंपनियों खाद्यान्न मूल्यों के दाम अपने लाभ की खातिर मनमाने ढंग से तय कर सकती हैं। भूमंडलीकरण की नीतियों के चलते खाद्य पदार्थों के लिए वैश्विक निर्भरता बढ़ रही है, उपजाऊ भूमि को बलात औद्योगिक भूमि में परिवर्तित किया जा रहा है, श्रमिकों के रोजगार के अवसरों एवं वास्तविक मजदूरी में कमी हो रही है और सार्वजनिक वितरण प्रणाली एवं खाद्य संग्रहण की पहले से कमजोर नीतियां अब हाशिए पर जा रही हैं। ये सब उन मौजूदा आर्थिक नीतियों का परिणाम है जो न केवल गरीबों के खिलाफ है बल्कि वे भारतीय राज्य व्यवस्था के चरित्र एवं नीयत को भी प्रकट करती है। अगर भूख से निपटना है तो भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को ही बदलना होगा तथा प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा अधिनियम को इतना विस्तारित करना होगा कि यह भूख के बढ़ते दायरे को अपने में समेट सके। सामाजिक क्षेत्र के लिए सरकार का खाली खजाने का तर्क सच्चाई से कोसों दूर है। वास्तविकता यह है कि इस हेतु सरकार में राजनीतिक इच्छा शक्ति का अभाव है। सरकार अब खुलकर कंपनियों के हित में खड़ी दिखाई देती है।

‘सरकार के पास पर्याप्त धन नहीं है’ कि वास्तविकता को उसके द्वारा कार्पोरेट क्षेत्र को दी जाने वाली भारी सब्सिडी से समझा जा सकता है। विकास की आसन्न जरूरतों के बावजूद भारत में करों की दर अनेक विकसित राष्ट्रों से कम है। यह हमारे सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात में 18.5 प्रतिशत है जबकि अमेरिका जैसे अमीरों के हितैषी राष्ट्र में यह 25.4 प्रतिशत है। वहीं स्वीडन में यह 50.7, डेनमार्क में 49.6 एवं बेल्जियम में 45.6 प्रतिशत है। सकल कर राजस्व वसूली में भी इस वर्ष कमी आई है। यह हमारी नवउदारवादी नीतियों का ही नतीजा है कि सकल घरेलू उत्पाद में 55 प्रतिशत की हिस्सेदारी करने वाले हमारे ‘सेवा क्षेत्र’ का करों में योगदान मात्र 9 प्रतिशत है। हालांकि पिछले कुछ वर्षों में प्रत्यक्ष करों की दरों में पर्याप्त वृद्धि की गई है लेकिन इसी दौरान कार्पोरेट और सेवा क्षेत्र की कमाई में और भी ज्यादा वृद्धि हुई है। इस कर नीति का सबसे भयानक पक्ष यह है कि

कंपनियों को छूट एवं सब्सिडी के जरिए, करों के माध्यम से उगाही जा सकने वाली आधी से अधिक राशि का स्वतः 'त्याग' कर देती है। 2008-09 में केन्द्र सरकार द्वारा करीब 418095 करोड़ रुपए के 'कर राजस्व की माफी' दी गई जो कि कुल कर संग्रहण का करीब 69 प्रतिशत है। इसमें कार्पोरेट जगत को 68914 करोड़, व्यक्तिगत आयकर में 39533 करोड़, कस्टम्स में 225752 करोड़ एवं एक्साइज में 128293 करोड़ की कर माफी दी गई थी। जबकि 2007-08 में यह राशि 278644 करोड़ थी जो कि केन्द्र सरकार के कर राजस्व का 48.16 प्रतिशत थी। करों की वसूली न हो पाना भी अत्यंत सोचनीय विषय है। यह राशि 2005-06 में 90255.88 करोड़ थी जो 2006-07 में बढ़कर 99293.04 करोड़ हो गई। 5 अगस्त 2009 को संसद में बताया गया कि देश के 100 प्रमुख बकायेदारों पर 1.41 लाख करोड़ रुपए कर के रूप में बकाया हैं। नवीनतम केन्द्रीय बजट में जहां सामाजिक क्षेत्र पर सकल घरेलू उत्पाद का मात्र 1.8 प्रतिशत व्यय प्रस्तावित है वहीं रक्षा पर व्यय 2.5 प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त छोटे वेतन आयोग एवं बाह्य ऋण के पुनर्भुगतान की वजह से संसाधनों पर अत्यधिक भार पड़ रहा है।

कृषि क्षेत्र, जिस पर देश की दो तिहाई आबादी निर्भर है, पर पड़ रहे सतत दबाव और 'मेल्ट डाउन' के बावजूद सरकारी खर्च में कटौती से संबंधित 'वित्तीय जिम्मेदारी एवं बजट प्रबंध कानून' (एफ.आर.बी.एम.अधिनियम) को पारित किया गया है। अधिकांश आबादी की बढ़ती खाद्य असुरक्षा और घटती आमदनी के खतरों के बीच यह बिल पारित किया गया है जिसके माध्यम से स्वाभाविक तौर पर सामाजिक कार्यों पर होने वाले खर्चों की ही बलि चढ़ाई जाएगी। ऐसे हालातों में व्यापक खाद्य अधिकार की मांग में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट की अब कोई गुंजाइश ही नहीं बची है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत पूरे परिवार की बजाए कम-से-कम एकल परिवारों को इकाई मान कर प्रत्येक व्यक्ति को भारतीय चिकित्सा शोध संस्थान (आई.सी.एम.आर.) द्वारा सुझाई गई मात्रा में खाद्य पदार्थ उपलब्ध कराए जाने चाहिए। इस व्यवस्था को पूरे देश में एक सरीखा लागू करने से भुखमरी से बचा जा सकता है।

खाद्यान्न की सरकारी खरीद एवं वितरण का विकेन्द्रीकरण करके देश के सभी भागों से खाद्यान्नों की खरीद की जानी चाहिए। अभी यह खरीद मुख्यतः पंजाब, हरियाणा और आंध्रप्रदेश से ही होती है। सिर्फ 24 प्रकार के अनाजों पर घोषित किए जाने वाले न्यूनतम समर्थन मूल्य का दायरा बढ़ाकर उसमें अन्य दालों एवं मोटे अनाजों की भी अनिवार्य खरीदी की जानी चाहिए। इसी के साथ तिलहन की सरकारी खरीदी एवं खाद्य तेल का वितरण सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से किया जाना जरूरी है। हरित क्रांति के कारण लगभग समूचे देश में हो रही सूखी खेती का कबाड़ा हुआ है। नतीजे में तिलहन की पैदावार घटी है और खाद्य तेलों की कमी हो गई है। पहले जहां हम खाद्य तेल में आत्मनिर्भर थे वहीं आज करीब 40 प्रतिशत

तेल का आयात कर रहे हैं। उत्पादन बढ़ाने के नाम पर कार्पोरेट हितों को किसी भी प्रकार की जी.एम. फसलों और खाद्यान्न वितरण की अनुमति देना खतरनाक होगा।

अपनी खाद्य सुरक्षा के लिए हमें कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर भी गंभीरता से सोचना होगा। इसमें सबसे प्रमुख है खाद्यान्नों में स्वावलंबन। भूख की समस्या सीधे-सीधे कृषि से जुड़ी है। आज खाद्य पदार्थों के मूल्यों एवं आपूर्ति को अंतर्राष्ट्रीय बाजार की ताकतें एवं निगम नियंत्रित करते हैं। अपनी खाद्य सुरक्षा के लिए हमें अपनी कृषि को पुनः सशक्त बनाना होगा जिससे हम अंतर्राष्ट्रीय बाजारों की दया पर निर्भर न रहें। सरकार के सभी खाद्य कार्यक्रमों को प्राथमिक तौर पर घरेलू आपूर्ति से ही क्रियान्वित किया जाना चाहिए। गंभीर कमी के दौर में ही खाद्यान्न आयात किया जा सकता है। इसी के साथ जब तक घरेलू मांग की आपूर्ति पूर्ण न हो जाए खाद्य पदार्थों के निर्यात को भी प्रतिबंधित किया जाना चाहिए। हाल ही में देश में इसी वजह से चावल की कीमतों में जबरदस्त उछाल आया था।

इस पूरे मामले में सबसे महत्वपूर्ण है, किसान को उसकी भूमि से अलग करने की कोशिशें। केंद्र की सरकार एक ओर तो खाद्य सुरक्षा की बात करती है वहीं दूसरी ओर कार्पोरेट घरानों को उद्योगों के लिए भरपूर भूमि और पानी भी उपलब्ध करवा रही हैं। भूमि अधिग्रहण कानून में परिवर्तन की उसकी मंशा के पीछे भी यही है। नए खाद्य सुरक्षा अधिनियम में इस बात का प्रावधान होना चाहिए कि कृषि भूमि का गैर कृषि उपयोग में बलात परिवर्तन नहीं किया जाए। एक और मुद्दा है, तंत्र को दुरुस्त करने का। पिछले कुछ वर्षों में जो भी सामाजिक कानून पारित हुए हैं उनमें जवाबदेही और दंड का समुचित प्रावधान न होने के कारण उनके प्रावधानों का उल्लंघन आम हो गया है। अतएव नए खाद्य सुरक्षा कानून के अंतर्गत भ्रष्टाचार, जमाखोरी, खाद्यान्न को अन्य के उपयोग में लाने आदि पर प्रतिबंध लगाने के लिए सख्त कानून बनाए जाने चाहिए और ऐसे अपराधों को 'गैर जमानती' घोषित कर 'गंभीर' अपराधों की श्रेणी में डाला जाना चाहिए। इसी के साथ आवश्यक वस्तु अधिनियम को नए खाद्य सुरक्षा अधिनियम में समाहित कर उसका हिस्सा बनाना चाहिए।



# भूखे और कुपोषित बच्चों का एक प्रदेश

(मध्यप्रदेश में कुपोषण का महाकाल)

« सुनील

इन दिनों भारत की प्रगति, ऊँची विकास दर और महाशक्ति बनने का हो हल्ला बहुत हो रहा है। लेकिन ये दावे कितने खोखले हैं, यह भारतीय जनता के कुपोषण और स्वास्थ्य संबंधी आंकड़ों से पता चलता है। पिछले दिनों वर्ष 2005-06 में हुए राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के तीसरे दौर के आंकड़ें प्रकाशित हुए हैं, उनसे इन दावों की पोल खुलती है। इससे पता चलता है कि अभी भी इस देश के तीन वर्ष से छोटे बच्चों में लगभग आधे (46 प्रतिशत) कुपोषित हैं और तीन चौथाई से ज्यादा (79 प्रतिशत) बच्चे कमजोर हैं और खून की कमी से ग्रस्त हैं। दुनिया के सबसे ज्यादा कुपोषित बच्चे भारत में ही हैं। इनकी संख्या 5.7 करोड़ है, जो दुनिया के कुल 14.6 करोड़ कुपोषित बच्चों में एक तिहाई से ज्यादा है। यही नहीं, भारत में खून की कमी और कमजोरी से ग्रस्त महिलाओं का प्रतिशत भी पिछले सात वर्षों में घटने के बजाय बढ़ा है। यह 52 से बढ़कर 56 प्रतिशत हो गया है। भारत सरकार को भी संसद में पेश वर्ष 2006-07 की आर्थिक समीक्षा में इसे स्वीकार करना पड़ा है।

‘स्वास्थ्य मानकों’ पर भारत की स्थिति अपने कुछ पड़ोसी देशों की तुलना में भी खराब है। भारत की स्थिति न केवल चीन और श्रीलंका की तुलना में, कुछ संकेतकों के संदर्भ में बांग्लादेश और नेपाल से भी दयनीय है’। ( पृ. 216) दरअसल, नेपाल, इथियोपिया और बांग्लादेश के साथ दुनिया में कुपोषित बच्चों के अनुपात में भारत सबसे ऊपर है। कई मामलों में भारत की स्थिति अफ्रीका और सहारा क्षेत्र के उन इलाकों के समकक्ष या बदतर है, जहां के कुपोषित कंकाल बने बच्चों की भयानक तस्वीरें बीच-बीच में अखबारों और टीवी में आती रहती हैं। पिछले दिनों, एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था ने विश्व भूख सूचकांक तैयार किया, तो उसमें भारत का स्थान इथियोपिया से भी नीचे था। दुनिया के 118 देशों के इस सूचकांक में भारत का स्थान काफी नीचे 94 पर था, इथियोपिया का 93 पर था, पाकिस्तान का 88 पर और चीन का 47 पर था। कुपोषण और भूख की यह स्थिति पूरे भारत का औसत है। यानी भारत के अंदर अनेक प्रांत इलाके और तबके हैं, जिनमें स्थिति और भी

खराब है। मध्यप्रदेश भारत के बीच का एक ऐसा प्रांत है, जिसकी हालत सबसे खराब है और लगातार खराब होती जा रही है।

सबसे पहला राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1992-93 में हुआ था, उसके बाद 1998-99 में हुआ और फिर 2005-06 में हुआ। पहले सर्वेक्षण में भी बाल कुपोषण में मध्यप्रदेश की स्थिति खराब थी और वह सबसे खराब राज्यों में नीचे से सातवें नंबर पर था। दूसरे सर्वेक्षण में तुलनात्मक रूप से उसकी प्रगति बहुत खराब रही और वह बाल कुपोषण में भारत के राज्यों में पहले नंबर पर पहुंच गया। छत्तीसगढ़ अलग होने के बाद शेष मध्यप्रदेश की स्थिति और खराब हुई है तथा तीसरे सर्वेक्षण में भी वह भारत के राज्यों में पहले नंबर पर सबसे ज्यादा बाल कुपोषण वाला राज्य बन कर उभर आया है। छत्तीसगढ़ सहित पूर्व संयुक्त मध्यप्रदेश में 1992-93 में तीन वर्ष से छोटे 48.5 प्रतिशत बच्चे कुपोषित थे, जो 1998-99 में कम होने के बजाय बढ़कर 55.1 प्रतिशत हो गए। इससे अगले सात वर्षों में नए विभाजित मध्यप्रदेश में कुपोषित बच्चों का अनुपात 53.5 प्रतिशत से और बढ़कर 60.3 प्रतिशत हो गया, जबकि छत्तीसगढ़ ने 60.8 से घटाकर 52.1 प्रतिशत करते हुए अपनी स्थिति सुधार ली। इस प्रकार, 60 प्रतिशत से ज्यादा छोटे कुपोषित बच्चों के साथ मध्यप्रदेश पूरे देश के प्रांतों में कुपोषण की दर ऊँची है, लेकिन मध्यप्रदेश से कम है। उड़ीसा में तो इन सात वर्षों में कुपोषित बच्चों के प्रतिशत में उल्लेखनीय कमी आई है और वह 54.4 से घटकर 44 हो गया है। भारत के स्तर पर कुपोषित बच्चों का अनुपात 1998-99 में 47 प्रतिशत था, जो 2005-06 में मामूली सा गिरकर 2005-06 में 45.9 हुआ है। विकास के तमाम दावों के बावजूद मध्यप्रदेश देश के उन राज्यों में है, जहां कुपोषण कम होने के बजाय लगातार बढ़ रहा है। अब इस प्रांत के 60 प्रतिशत से ज्यादा बच्चे कुपोषित हैं। इसमें भी ग्रामीण बच्चों की हालत ज्यादा खराब है और उनमें कुपोषण का प्रतिशत 63 है। शहरी बच्चों में कुपोषण की दर 53 है तथा शहरी-ग्रामीण क्षेत्र के कुपोषण में 10 प्रतिशत का फर्क है।

इन सर्वेक्षणों में खून की जांच करके खून की कमी एवं कमजोरी (रक्ताल्पता या एनीमिया) का भी पता लगाया गया है। उसमें भी पता लगता है कि मध्यप्रदेश के 6 से 35 माह की उम्र तक के बच्चों में रक्ताल्पता से पीड़ित बच्चों का प्रतिशत 1988-99 में 71 था जो 2005-06 में बढ़कर 83 हो गया। इस दृष्टि से भी मध्यप्रदेश की हालत देश के सबसे खराब प्रांतों में है। वर्तमान में सिर्फ उत्तरप्रदेश और बिहार में ही मध्यप्रदेश से ज्यादा रक्ताल्पता से पीड़ित बच्चे हैं। शहरी बच्चों में यह प्रतिशत 75 है। शिशु मृत्यु दर के हिसाब से भी मध्यप्रदेश की स्थिति सबसे बुरी है और पूरे भारत में यह मध्यप्रदेश में ही सबसे ज्यादा है। 'सेम्पल रजिस्ट्रेशन सिस्टम' के वर्ष 2008-09 के आंकड़े बताते हैं कि मध्यप्रदेश में जन्म लेने वाले 1000 बच्चों में से 70 अपना पहला जन्मदिन नहीं देख पाते हैं और एक वर्ष के अंदर मर जाते हैं। प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्र में तो यह आंकड़ा 75 प्रति हजार है।

अखिल भारतीय स्तर पर शिशु मृत्यु दर 53 प्रति हजार है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलना करें तो चीन में यह दर 32 है, थाईलैण्ड में 18, श्रीलंका में 15, मलेशिया में 9, जापान, सिंगापुर, नार्वे तथा स्वीडन में मात्र 3 है।

बच्चों के स्वास्थ्य का सीधा संबंध माताओं के स्वास्थ्य से है। इस मामले में भी मध्यप्रदेश की हालत काफी नाजुक है। सर्वेक्षणों में पाया गया कि पूरे देश के स्तर पर वर्ष 1998-99 में 15 से 49 वर्ष की उम्र की विवाहित महिलाओं में से 52 प्रतिशत रक्ताल्पता की शिकार थीं। सात वर्ष बाद यह प्रतिशत घटने के बजाय बढ़कर 56 हो गया। मध्यप्रदेश की महिलाओं में भी यह प्रतिशत 49 से बढ़कर 58 हो गया, यानी प्रदेश की ज्यादा महिलायें कमजोरी और खून की कमी से पीड़ित होती जा रही हैं। इस मामले में यद्यपि पहले नंबर पर नहीं है, फिर भी जहां अनेक प्रांतों में स्थिति सुधर रही है, वहीं मध्यप्रदेश में स्थिति बिगड़ी है। महिलाओं की रक्ताल्पता में इस अवधि में सबसे ज्यादा वृद्धि हरियाणा के बाद मध्यप्रदेश में ही हुई है। जिन महिलाओं का शरीर (बॉडी मास इन्डेक्स) सामान्य से कमजोर पाया गया, उनका प्रतिशत भी इन सात वर्षों में मध्यप्रदेश में 35 से बढ़कर 40 हो गया। जबकि राष्ट्रीय स्तर पर यह 36 से घटकर 33 पर आया है। इसी प्रकार प्रसव के दौरान महिलाओं की मृत्यु दर वर्ष 2001-03 में मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ को मिलाकर प्रति एक लाख बच्चों के जन्म पर 379 थी, जबकि राष्ट्रीय औसत 301 था तथा केरल में यह दर 110 थी। तुलना के लिए यह देखा जा सकता है कि श्रीलंका में यह दर 92 थाईलैण्ड में 44, चीन में 36, सिंगापुर में 30, कोरिया गणराज्य में 20, जापान में 10, स्पेन व आस्ट्रेलिया में 4 तथा स्वीडन में मात्र 2 है।

इन आंकड़ों से यह साफ है कि देश के मध्य में स्थित इस प्रदेश में बच्चों और महिलाओं के स्वास्थ्य एवं पोषण की स्थिति बहुत खराब है और बिगड़ती ही जा रही है। इसके अनेक कारण हैं। सबसे बड़ा कारण गरीबी एवं बेरोजगारी है। मध्यप्रदेश देश के सबसे गरीब राज्यों में से एक है। वर्ष 2004-05 में मध्यप्रदेश में 37.21 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे थे, जबकि राष्ट्रीय स्तर पर यह आंकड़ा 28.27 था। लेकिन ऊपर के आंकड़ों से स्पष्ट है कि इससे काफी ज्यादा संख्या में लोग कुपोषण, कमजोरी व बीमारियों के शिकार हैं। वास्तव में इससे गरीबी के सरकारी आंकड़ों की विश्वसनीयता एवं प्रासंगिकता पर ही सवाल लग जाता है। यह तय है कि मध्यप्रदेश में अधिकांश लोग इस हालत में पहुंच गए हैं कि वे न तो अपने बच्चों और महिलाओं को ठीक से पूरा भोजन दे पा रहे हैं और न उनकी बीमारियों का इलाज करा पा रहे हैं। यह भी हो सकता है कि लोगों की मौद्रिक आय तो बढ़ रही है, लेकिन संसाधनों पर उनका अधिकार एवं क्रयशक्ति में कमी हो रही है।

गरीब लोगों के लिए भोजन का एक सहारा राशन की व्यवस्था होती है। लेकिन पिछले कुछ समय से योजनाबद्ध ढंग से गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों की सूची

में से बड़ी संख्या में नाम काटकर अनेक गरीबों को सस्ते अनाज से वंचित किया गया। राशन वितरण प्रणाली में भ्रष्टाचार तो है ही। पिछले काफी समय से सूची में शामिल परिवारों को भी निर्धारित 35 किलो से काफी कम अनाज दिया जा रहा है। एक वर्ष से उन्हें आस्ट्रेलिया से आयातित दूषित अखाद्य लाल गेहूँ बांटा जा रहा है। मध्यप्रदेश में व्यापक अशिक्षा, अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों को भी कुपोषण के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। सर्वेक्षण में पाया गया कि प्रदेश में अभी भी आधी से ज्यादा महिलाओं की शादी 18 वर्ष से कम उम्र में हो रही है। कम उम्र में प्रसूता होने पर कमजोर बच्चों का पैदा होना तथा महिलाओं का स्वास्थ्य कमजोर होना स्वाभाविक है। सर्वेक्षण में यह भी पाया गया कि गलत धारणा के कारण मात्र 15 प्रतिशत शिशुओं को जन्म के एक घंटे के अंदर स्तनपान कराया जाता है।

### सरकारी सेवाओं की व्यवस्था नाकाफी है

स्वास्थ्य एवं पोषण के मोर्चे पर मध्यप्रदेश की इस शोचनीय स्थिति की पूरी व्याख्या सिर्फ गरीबी एवं अशिक्षा से नहीं होती। मध्यप्रदेश से ज्यादा या इतने ही गरीब एवं अशिक्षित कई अन्य राज्यों की स्थिति इस मामले में बेहतर है। इस स्थिति का गहरा संबंध सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं एवं सरकारी योजनाओं की असफलता से भी है। वर्ष 2001-02 के आंकड़े बताते हैं कि मातृ एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रमों पर प्रति व्यक्ति सालाना खर्च मध्यप्रदेश में सबसे कम 16.8 रुपये था, जो कि राष्ट्रीय औसत का आधा था। निजीकरण एवं वैश्वीकरण की नई नीति के तहत इस प्रदेश में भी सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं को लगातार कम किया जा रहा है, बिगाड़ा जा रहा है एवं उसे महंगा किया जा रहा है। दवाइयां भी महंगी हो रही हैं। निजी डॉक्टरों व अस्पतालों को भी मरीजों को लूटने की छूट दे दी गई है और उन पर कोई नियंत्रण नहीं है। गरीब लोग मजबूर होकर या तो इलाज ही नहीं करा पाते हैं या नीम-हकीमों या झाड़-फूंक की शरण में जाते हैं। एक बीमारी, परिवार का पूरे महीने भर का बजट बिगाड़ देती है और उस व्यक्ति को लंबे समय तक कमजोर व कुपोषित बना देती है। कुछ मौसमों में तो परिवार के परिवार और गांव बीमारियों से ग्रस्त देखे जा सकते हैं। पिछले कुछ वर्षों से मलेरिया एवं वायरल बुखार का प्रकोप महामारी की तरह फैला है, जो लोगों को लंबे समय तक कमजोर बना देता है। पेचिश अभी भी एक व्यापक बीमारी है और बहुत हद तक कुपोषण के लिए जिम्मेदार है।

स्वास्थ्य के निजीकरण और बाजारीकरण के इन दुष्परिणामों को मानो हल्का करने के लिए ही पिछले कुछ समय से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से और अंतर्राष्ट्रीय निर्देश में अनेक योजनाएं शुरू की गई हैं। प्रजनन व बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम के तहत पूरे देश में आंगनबाड़ियों का जाल बिछाया गया है तथा गर्भवती माताओं और बच्चों के लिए पूरक आहार, टीकाकरण तथा स्वास्थ्य निगरानी का तंत्र बनाया गया है। जननी सुरक्षा योजना के तहत अस्पताल में ही प्रसव कराने पर बहुत जोर दिया जा रहा है और इसके लिए प्रोत्साहन राशि भी बांटी जा रही है। 'एकीकृत बाल विकास सेवाएं'

भी चल रही हैं। वर्ष 2005 से विश्व बैंक की मदद से 'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन' शुरू किया गया है। 'आशा' कार्यकर्ताओं की नियुक्ति इसी के तहत की जा रही है। राष्ट्रीय मातृत्व सहायता योजना, राष्ट्रीय एनीमिया नियंत्रण कार्यक्रम आदि भी चल रहे हैं। इनके अतिरिक्त, मध्यप्रदेश सरकार ने गरीबों के 20 हजार रुपये तक की 'दीन दयाल अंत्योदय उपचार योजना' शुरू की है। कुपोषण से प्रभावित कुछ इलाकों के लिए 'शक्तिमान' योजना भी हाल में शुरू की गई है। लेकिन मध्यप्रदेश की जो हालत बयां की गई है, वह इन तमाम सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों पर एक तमाचा है। न केवल ये अपने लक्ष्य में असफल रही हैं, बल्कि इससे यह भी जाहिर हो गया कि वैश्वीकरण की नीतियों के दुष्प्रभावों को कुछ योजनाओं से दूर नहीं कि जा सकता। दूसरा कि साधारण जनता के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी सरकार को ही लेनी होगी, इसका कोई विकल्प नहीं है। तीसरा, विकास एवं प्रगति की गाड़ी में बहुसंख्यक जनता पीछे छूटती-गिरती जा रही है।

मध्यप्रदेश की स्थिति का एक पहलू इसकी दलित एवं आदिवासी आबादी है। मध्यप्रदेश एक वन-बहुल एवं आदिवासी-बहुल प्रान्त है। यहां अनुसूचित जातियों और जनजातियों की आबादी का अनुपात काफी है। उनकी दुर्दशा का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि कुपोषण की दरें उनमें मध्यप्रदेश के औसत से भी ज्यादा है। मध्यप्रदेश की सरकार पिछले दिनों दलित एजेण्डा, संयुक्त वन प्रबंध, आदिवासी कल्याण आदि का जोर-शोर से प्रचार करती रही है। लेकिन शायद स्थिति उल्टी है। प्रदेश में जल-जंगल-जमीन आदि प्राकृतिक संसाधनों से स्थानीय समुदायों को लगातार वंचित किया जा रहा है। अनेक बांधों, कारखानों, राष्ट्रीय उद्यानों व अभयारण्यों से बड़ी तादाद में लोगों को विस्थापित-वंचित किया जा रहा है। इन सबका विपरीत असर लोगों की जीविका, पोषण और स्वास्थ्य पर पड़ा है। उल्लेखनीय है कि तमाम वन क्षेत्रों में लोगों के भोजन एवं पोषण का एक महत्वपूर्ण स्रोत जंगल भी होते हैं, जिनसे उन्हें वंचित किया जा रहा है।

मध्यप्रदेश की सरकारें समय समय पर दावा करती रही हैं कि उन्होंने अपने प्रदेश को 'बीमारू' की श्रेणी से निकाल लिया है। लेकिन इस 'बीमारू' प्रांत की जनता और ज्यादा बीमार एवं कुपोषित होती जा रही है। यह एक प्रकार का आपातकाल है और इसके लिए युद्ध स्तर पर काम करने की जरूरत है। यह 'सुनामी' से भी बड़ा संकट है। इससे न केवल वर्तमान, बल्कि भविष्य भी प्रभावित हो रहा है। विशेषज्ञों का मानना है कि बच्चे का 90 प्रतिशत मानसिक एवं शारीरिक विकास पहले तीन वर्षों में तय हो जाता है। यह भारतीय संविधान की धारा 39 (एफ) के नीति-निर्देशक सिद्धांत की अवहेलना है, जिसमें भारत की सरकार को बच्चों के स्वस्थ विकास को सुनिश्चित करने के लिए निर्देशित किया गया है। इस धरती पर जन्म लेने वाले हर बच्चे का अधिकार है कि उसे पूरी खुराक मिले, पूरी देखभाल व इलाज हो तथा शिक्षित होने का अवसर मिले। हमारे लोकतंत्र की भी यह परीक्षा है।



लेकिन सरकार की प्रतिक्रिया आम तौर पर रस्म-अदायगी जैसी रही है। मध्यप्रदेश की मौजूदा सरकार का तो ज्यादा ध्यान प्रदेश में देशी-विदेशी पूंजी को आकर्षित करने पर ही है। एक तरफ ग्लोबल इन्वेस्टर्स मीट का आयोजन हो रहा है, दूसरी तरफ प्रदेश के कई जिलों से कुपोषण व भूख से मौतों की खबरें आती रहती हैं। लेकिन सरकार का रवैया उन्हें नकारने, लीपापोती करने और दबाने का होता है। कुपोषण के आंकड़ों को भी कम करके दिखाने की कोशिश होती है। हां, नयी योजनाओं की राशि भ्रष्टाचार के नए मौके जरूर देती है।

होशंगाबाद जिले का केसला विकासखण्ड प्रदेश व देश के सबसे ज्यादा कुपोषित क्षेत्रों में से एक है। पिछले 28 सितम्बर 2007 को प्रदेश के मुख्यमंत्री वहां पर 'शक्तिमान' नामक कुपोषण दूर करने की एक नई योजना का उद्घाटन करने पहुँचे। वहाँ पर सक्रिय एक संगठन के नेतृत्व में लगभग ढाई सौ आदिवासी स्त्री-पुरुष इस मौके पर सरकारी कार्यक्रमों की विसंगतियों, कर्मियों व भ्रष्टाचार को बताने के लिए तख्तियाँ लेकर सभास्थल पर जा रहे थे। उनके हाथों में राशन में बंट रहा सड़ा लाल गेहूँ था, जिसे मुख्यमंत्री को दिखाना चाहते थे। वे मुख्यमंत्री से यह भी पूछना चाहते थे कि पहले से चल रही पोषण व स्वास्थ्य योजनायें काम नहीं कर रही हैं, तो एक और योजना से क्या होगा? किंतु प्रशासन ने उन्हें कार्यक्रम में पहुंचने से पहले ही गिरफ्तार कर लिया और उनके साथ काफी मारपीट की। उनका नेतृत्व कर रहे स्थानीय जनपद पंचायत के आदिवासी उपाध्यक्ष को पुलिस अफसरों ने काफी मारा। स्थानीय जिला पंचायत सदस्य को भी उसके घर में नजरबंद कर दिया गया और कार्यक्रम में नहीं पहुंचने दिया। प्रशासन के अधिकारी नहीं चाहते थे कि उस कार्यक्रम में उस क्षेत्र की गरीब जनता की तकलीफों की कोई चर्चा हो या उनके भ्रष्टाचार की कोई पोल खुले। इससे साफ है कि देश का सबसे ज्यादा कुपोषित, बीमार कमजोर और वंचित लोगों का प्रांत होने पर यहां की सरकार की प्राथमिकता व एजेण्डे में यह नहीं है। स्वास्थ्य और कुपोषण वैसे भी आज के राजनैतिक दलों एवं चुनावों के मुद्दे नहीं होते। किंतु यह एक भयानक स्थिति है। इस पर तत्काल कुछ करने की जरूरत है।

## मध्यप्रदेश के बच्चों को कौन बचाएगा ?

### तालिका-1

#### कुपोषण के मामले में मध्यप्रदेश और भारत की तुलनात्मक स्थिति

क्र.	विवरण	मध्यप्रदेश	भारत
1	तीन वर्ष से छोटे कम वजन के कुपोषित बच्चे (प्रतिशत), 2005-06	60.0	45.9
2	रक्ताल्पता (एनीमिया) के शिकार 6-35 माह उम्र के बच्चे (प्रतिशत), 2005-06	74.1	69.5

3	शिशु मृत्यु दर (प्रति 1000 जीवित जन्म पर) 2008–09	70	53
4	प्रसव के दौरान मातृमृत्यु दर (प्रति एक लाख प्रसव पर), 2001–03	379	301
5	कमजोर महिलायें (सामान्य से कम बॉडी माॅस इन्डेक्स) (प्रतिशत), 2005–06	40	33
6	रक्ताल्पता की शिकार 15–49 वर्ष की महिलायें (प्रतिशत), 2005–06	58	56
7	मातृ एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रमों पर प्रति व्यक्ति खर्च (रु. प्रति वर्ष), 2001–02	16.8	33.5
8	गरीबों की संख्या (प्रतिशत), 2004–05	37.21	28.27

नोट: मातृ मृत्यु दर में मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ का संयुक्त आंकड़ा है।



# मौजूदा ढांचे में महिलाओं और बच्चों की स्थिति

« रौली शिवहरे और प्रशांत दुबे\*

**आ**ज यह बात भरोसे से नहीं कही जा सकती कि देश के किसी भी घर में स्वस्थ बच्चा जन्म ले ले और जच्चा-बच्चा दोनों भी स्वस्थ रहें। प्रदेश के संदर्भ में यह भरोसा तब और टूटता नजर आता है जबकि हम पाते हैं कि यहां शिशु मृत्यु दर 70 प्रति हजार है। यह मृत्यु दर देश भर में सर्वाधिक है। साल भर में लगभग सवा लाख शिशु मौत के मुंह में समा जाते हैं। ये वे मौतें हैं जिन्हें रोका जा सकता है। प्रदेश में कुपोषण की स्थिति तो और भी चौंकाने वाली है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के तृतीय चक्र के आंकड़ें कहते हैं कि प्रदेश में कुपोषण का प्रतिशत 60 है। यानी हर दूसरा बच्चा कुपोषित है। आदिवासी बच्चों के मामले में यह प्रतिशत 72 है। इन कुपोषित बच्चों में से भी 1335600 बच्चे गंभीर रूप से कुपोषित हैं। इन बच्चों व उनके परिवार जनों को यह नहीं पता है कि उनकी सांसें कब थमने वाली हैं ! प्रदेश में विगत 56 महीने में सवा लाख शिशुओं की मौत हो गई। अकेले सतना जिले में पिछले डेढ़ वर्ष में 6000 शिशुओं की मौत हो गई, जो कि प्रदेश में सर्वाधिक है।

इस अविकसित तंत्र में से भी जब हम 0 से लेकर 6 वर्ष तक के बच्चों के समग्र विकास की बात करते हैं तो समेकित बाल विकास सेवा अपनी सातों सेवाओं के साथ आस बंधाती नजर आती है। लेकिन प्रदेश में अभी तक समेकित बाल विकास सेवा का सार्वभौमीकरण नहीं हो पाया है। इस सेवा के अंतर्गत आंगनबाड़ियों की हालत बहुत पतली है। वर्तमान में प्रदेश में 69738 आंगनबाड़ी केन्द्र ही संचालित हैं। सर्वोच्च न्यायालय के आयुक्तों की रिपोर्ट की माने तो प्रदेश में 0 से 6 वर्ष तक के बच्चों की कुल संख्या 1 करोड़ 10 लाख के आसपास है। समेकित बाल विकास सेवाओं के सर्वव्यापीकरण के लिये प्रदेश में 1 लाख 46 हजार आंगनबाड़ी केन्द्रों की आवश्यकता है। सरकार अभी भी आधे यानी लगभग 55 प्रतिशत बच्चों को ही

\*रौली शिवहरे और प्रशांत दुबे दोनों ही विकास संवाद, भोपाल से संबद्ध हैं।

वास्तव में कवर करती है, और बाकी बच्चे अभी भी इसकी पहुंच से दूर हैं। राज्य की मात्र 12985 आदिवासी बसाहटों तक ही आई. सी. डी. एस. योजना का लाभ पहुंच पाया है, जबकि अभी भी 4168 आदिवासी बसाहटें इस योजना के लाभ से छूट रही हैं। हालांकि हाल ही में राज्य मंत्रिमण्डल ने 9000 नवीन आंगनबाड़ी खोलने की स्वीकृति दे दी है, जिसके चलते आंगनबाड़ी केन्द्रों की संख्या बढ़कर लगभग 78000 हो जाती है। इसके बावजूद भी 40 प्रतिशत बच्चे इन केन्द्रों की पहुंच से बाहर ही रहने वाले हैं।

कुपोषण को पूरी व्यवस्था से अलग करके नहीं देखा जा सकता। एक बच्चे का कुपोषित होना पूरे तंत्र की विफलता है। यह अपने आप में एक राजनीतिक प्रक्रिया है। रोजगार के अवसरों में कमी, प्राकृतिक संसाधनों से दूर होते/करते जाना, खानपान का बदलता तंत्र, कृषि का बदलता तरीका, नगदी फसलों की ओर उन्मुख होना/करते जाना, सरकार द्वारा खाद्य सुरक्षा कार्यक्रमों से निरंतर हाथ खींचना (सब्सिडी कम करना), स्वास्थ्य सेवाओं की अनुपलब्धता तथा पूरक पोषणाहार जैसे कार्यक्रमों की विफलता या उचित क्रियान्वयन का अभाव एक बच्चे के कुपोषित होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जमीनी स्तर की स्वास्थ्य सेवाओं की विफलता भी बच्चों में कुपोषण का एक प्रमुख कारण है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के तृतीय चक्र के आंकड़े कहते हैं कि प्रदेश में कुल 40 प्रतिशत बच्चे ही ऐसे हैं जिनका पूर्ण टीकाकरण हुआ है, जिसमें से भी ग्रामीण क्षेत्रों में महज 32 प्रतिशत बच्चे ही इस श्रेणी में हैं। पूर्ण टीकाकरण के मामले में मध्यप्रदेश देश भर में 9वें नंबर पर है। प्रदेश में 5 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं जिन्हें कभी भी किसी भी प्रकार का कोई भी टीका लगा ही नहीं है।

हम सभी जानते हैं कि बच्चों को यदि मां का दूध ही उचित मात्रा में व समय से मिले तो उनके कुपोषण से ग्रसित होने की आशंकायें बहुत कम हो जाती हैं। लेकिन प्रदेश में बच्चे के जन्म के आधे घंटे के भीतर बच्चों को मां का दूध मिलने वाले बच्चों का प्रतिशत केवल 14.7 है। 1 घंटे के भीतर यह प्रतिशत केवल 15.9 है। 5 माह के वे बच्चे जिन्हें पूर्ण रूप से मां का दूध मिला हो, उनका प्रतिशत सिर्फ 21.9 है। प्रदेश में 74 प्रतिशत बच्चों में खून की कमी पाई गई है। 6 से 35 वर्ष के 84.9 प्रतिशत बच्चे एनीमिक हैं। बच्चों में एनीमिया के मामले में बिहार के बाद दूसरे स्थान पर मध्यप्रदेश ही है। स्वास्थ्य कार्यक्रमों में पितृसत्ता का प्रभाव दिखता है। तभी तो प्रदेश में 56 प्रतिशत महिलायें खून की कमी का शिकार हैं। प्रदेश में मातृत्व मृत्यु दर 379 प्रति लाख है जो कि देश में तीसरे नंबर पर है। यानी इस प्रदेश में हर वर्ष लगभग 6000 महिलायें प्रसव या उससे उत्पन्न जटिलताओं के कारण मौत के मुंह में जा रही हैं। जब मां ही न हो तो बच्चों को मां का दूध मिले तो कहां से? यह जानने भर से क्या फर्क पड़ता है कि जिन बच्चों को मां का दूध नहीं मिलता है, उनके मरने और कुपोषण से ग्रसित होने की संभावना कई गुना बढ़ जाती है।

समेकित बाल विकास सेवाओं के तहत महिलाओं को गर्भावस्था के दौरान पोषणाहार वितरण की व्यवस्था है जिससे गर्भावस्था के दौरान उन्हें पर्याप्त पोषक तत्व मिलते रहें और बच्चा स्वस्थ पैदा हो। उनका नियमित स्वास्थ्य चैकअप हो तथा उन्हें स्वास्थ्य व पोषण सम्बन्धित जानकारीयां मिलती रहें। लेकिन प्रदेश में गर्भावस्था के दौरान केवल 31 प्रतिशत महिलाओं को ही पूरक पोषणाहार मिला। स्वास्थ्य चैकअप व स्वास्थ्य व पोषण शिक्षण क्रमशः 25.1 व 21.7 प्रतिशत ही मिला। दूध पिलाने वाली माताओं में से भी केवल 26.9 प्रतिशत को ही पूरक पोषणाहार मिला। स्वास्थ्य चैकअप व स्वास्थ्य व पोषण शिक्षण क्रमशः 18.3 व 17.5 प्रतिशत को ही मिला है। यही हाल किशोरियों की खाद्य सुरक्षा का भी है। किशोरियों को समेकित बाल विकास सेवा में शामिल करने का कारण भी यही था कि आगे जाकर यह किशोरी मां बनेगी तो फिर उसे अभी से पोषणाहार मिले और स्वास्थ्य व पोषण शिक्षण मिले। उच्चतम न्यायालय ने बार-बार कहा है कि प्रत्येक किशोरी बालिका को प्रतिदिन पका हुआ पोषणाहार मिले। उसकी स्वास्थ्य जांच हो व उसे स्वास्थ्य व पोषण शिक्षण मिले। लेकिन प्रदेश में स्थिति ठीक उलट है। प्रदेश में आंगनबाड़ियों में गांव की या क्षेत्र की समस्त किशोरियां दर्ज तो हैं लेकिन उनमें से केवल दो किशोरियों को ही पोषणाहार मिलता है। इन दो किशोरियों को भी केवल 6 माह तक के लिये चयनित किया जाता है। इसके बाद इन्हें हटा दिया जाता है। बच्चों, किशोरियों और महिलाओं के स्वास्थ्य तथा अपने ही कार्यक्रमों के प्रति सरकार की गंभीरता का अहसास कराने के लिए ये आंकड़े अपने आप में काफी हैं।

श्यापुर जिले के पातालगढ़ गांव की गुड़डी बाई ने 16 तारीख को एक बच्चे को जन्म दिया था। प्रसव के ठीक 15 मिनट बाद उस नवजात शिशु के होंठों पर चिपचिपा गुड़ चिपका दिया ताकि उसके स्वाद से बच्चा न रोये। उस नवजात शिशु को गुड़डी ने अपना दूध क्यों नहीं पिलाया; इस बुद्धिजीवी सवाल का उसने एक कड़वे से सच के साथ जवाब दिया कि जब मैंने ही तीन दिन से रोटी नहीं खाई है तो दूध कहां से उतारूं?

चौंकिये मत! तीसरा राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण इस तकलीफदेय सच्चाई को उजागर कर रहा है कि हमारे समाज में महिलाओं के शरीर में खून की कमी होती जा रही है। जहां आठ साल पहले मध्यप्रदेश में हर सौ में से 49.3 महिलायें खून की कमी से जूझ रही थीं, वहीं संख्या अब बढ़कर इस साल 57.6 हो गई है। महिलाओं के बिगड़ते पोषण के समीकरण में भेदभाव और उनके साथ होने वाला दोयम दर्जे का व्यवहार भी गंभीर भूमिका निभाता है।

एक तरफ तो 73 फीसदी महिलाओं को स्वास्थ्य सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं वहीं दूसरी ओर यह भी एक सच्चाई है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था में रोटी का अधिकार भी उसे उपलब्ध नहीं है। यह पूरा सच नहीं है कि गरीबी के कारण अनाज न होने से ही औरत भूखी रहती है। यदि ऐसा होता तो 60 प्रतिशत महिलाएं खून की कमी की

शिकार नहीं होती। वास्तविकता यह है कि वर्ग कोई सा भी हो, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग या निम्न वर्ग; सभी वर्गों की औरतों को उनकी जरूरत के अनुरूप पोषणयुक्त पूरा भोजन नहीं मिलता है। मध्यप्रदेश का मानव विकास प्रतिवेदन (2007), राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के हवाले से बताता है कि प्रदेश में 20.3 फीसदी महिलायें ही हर रोज दूध या दही पाती हैं जबकि 43 फीसदी को ही कभी दाल मिलती है। इस स्थिति में जब हम फलों पर पहुंचते हैं तो पता चलता है कि केवल 5 फीसदी महिलाओं को फल खाने को मिलते हैं। और 0.9 प्रतिशत को अण्डे और आधा फीसदी औरतों को मांसाहार करने का मौका मिलता है। यह आंकड़े केवल अर्थव्यवस्था की कोख से पैदा नहीं हुये हैं बल्कि सच यह है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था औरत को शरीर और मन से इतना कमजोर बना देना चाहती है कि वह राजनैतिक सत्ता के लिये संघर्ष न कर सके और पुरुष का यौनिकता पर नियंत्रण बन रहे।

भरपेट रोटी का मुद्दा वैसे तो गरीबी और अमीरी के बीच में बांट दिया गया है, परन्तु यह एक सतही सिद्धान्त है कि आर्थिक संकट ही सतत भुखमरी का कारण है। किसी भी परिस्थिति में यह नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है कि हमारा समाज अमीर-गरीब वर्गों में तो केवल एक निहित उद्देश्य के तहत बंटा हुआ है। यथार्थ यह है कि यह समाज औरत और पुरुष के बीच में बंटा हुआ है और यह विभाजन पितृसत्तात्मक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भों में एक अमानवीय व्यवस्था को स्थापित करता है। अगर भूख और गरीबी एक आर्थिक मुद्दा है तो सवाल यह है कि खेती के पूरे काम का तीन-चौथई हिस्सा अकेले पूरा करने वाली औरत ही अब शारीरिक रूप से सबसे कमजोर क्यों है? क्यों 70 फीसदी महिलायें खून की कमी और कुपोषण की शिकार हैं?

बात अब भूमण्डलीकृत हो चुकी है। मसला केवल गरीब और अमीर के बीच का भी नहीं है, अहम मसला औरत और मर्द के बीच का है। बहुत ही सुनियोजित ढंग से यह स्थापित कर दिया गया है कि औरत समाज में उत्पादक की भूमिका नहीं निभाती है; वह तो घर पर रहती है; उत्पादक तो पुरुष है जो घर के बाहर संघर्ष करता है, मेहनत करता है और तब जाकर कहीं घर में चूल्हा जलता है। बहुत ही व्यावसायिक चतुराई से समाज ने इस व्यवस्था को हमारे मन-मस्तिष्क का सिद्धान्त बना दिया है। हम यह विश्लेषण करने को तैयार नहीं होते हैं कि जिस बिखरे जीवन को औरत एक रूप देती है उसमें भी संघर्ष है, उसमें भी श्रम है, परन्तु उसमें औरत को अपने निर्णय लेने और चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं है।

वह कौशल सम्पन्न है पर वह घर की देहरी नहीं लांघ सकती क्योंकि इससे परिवार के सम्मान को ठेस लगेगी। परिवार के सम्मान का सिद्धान्त बहुत ही सोचा-समझा षड्यंत्र है। इस सम्मान को बचाने के लिये उसे घूँघट में रहना होगा। घूँघट की परम्परा को निभाने के लिये उसे चाहरदीवारी में रहना होगा। चाहर दीवारी में रहकर

उन्हीं दायित्वों का निर्वहन करना होगा; जो दायित्व पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने उसके लिये तय किये हैं। यह समाज जानता है कि उसे अवसर मिलते ही यह जोड़-घटाना भी होगा कि असलियत में उत्पादक की भूमिका निभाता कौन है? और तब पता चल जायेगा कि औरत की मौद्रिक उत्पादकता को समाज ने कर्तव्य, दायित्व, लाज, घरेलू काम, संवेदनशीलता, त्याग जैसे ही कई पदों के पीछे ढंक दिया है।

अगर सरकारी व्यवस्था पर एक नजर डाली जाये तो उसका नजरिया समझने के लिये बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा। जब हम सरकार की नीति के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा को परिभाषित करते हैं तो स्पष्ट होता है कि औरतों के लिये सामाजिक सुरक्षा के मायने उसके विधवा, निराश्रित होने या विकलांग होने तक ही सीमित है जब उसे 275 रुपये प्रति माह की पेंशन मिलने लगती है परन्तु सामाजिक नजरिये से यह पेंशन उन्हें और अधिक वंचित और उपेक्षित कर देती है क्योंकि इस पेंशन की पात्रता के साथ ही उनकी व्यापक समाज से जुड़ी हुई पहचान पूरी तरह से खत्म हो जाती है। तात्कालिक जरूरत को पूरा करने के उद्देश्य से शुरू हुई इस तरह की योजनायें अब सामाजिक जरूरत बन गई हैं और सरकार का दावा होता है कि वह भुखमरी रोकने के जतन कर रही है।

इसके साथ ही एक पक्ष यह भी है कि तेज विकास की प्रक्रिया में स्त्री का विकास और पुरुष के विकास की परिभाषा में भी लैंगिक भेद है। जब विकास की परिभाषा में कृषि, बागवानी, ट्रेक्टर या इसी तरह की ठोस जरूरतों के लिये योजनाओं की बात होती है तो पूरा 100 फीसदी हिस्सा पुरुषों के खाते में ही जाता है; औरतों को सूची में रखने का 'जोखिम' न सरकारी कर्मचारी उठाना चाहता है न ही ऋण देने वाले बैंक का प्रबंधक। वहीं दूसरी ओर बहुत दबाव के बाद जब सरकार को लगने लगा कि अब औरतें भी राजनीति के चेहरे को पहचानने लगी हैं तो शुरू हो गये आय संवर्धन कार्यक्रम। इन कार्यक्रमों का रूप भी 'स्त्रीयोचित' ही रखा गया यानी चूंकि बात औरतों की हो रही है इसलिये सहायता मिलेगी, अचार, बड़ी, पापड़ या सिलाई, कढ़ाई के काम के लिये। यहां एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जहां पर उन्हें कारखाना लगाने या निर्माण कार्य का काम मिला हो।

काम का भेदभाव भी बहुत सोच समझ के साथ किया जाता है। जिस काम में गति है, भ्रमण है, रोचकता है, वह काम पुरुष करता है। जबकि जो काम उबाऊ है, नीरस है और मेहनत वाला है वह औरतों के हिस्सों में आता है। खेती का ही उदाहरण लें। मर्द जब पानी ढोयेगा तो वह या तो ट्रेक्टर पर ढोयेगा या फिर बैलगाड़ी पर; पर जब महिला ढोयेगी तो सिर पर तीन मटके रखकर पैदल चल पड़ेगी। धान की बुआई और कटाई महिला करेगी क्योंकि घुटनों-छुटनों पानी में कमर झुकाकर यह काम करना होता है, पुरुष इसी फसल को ट्रेक्टर पर लादकर मण्डी या बाजार में बेचने चल देगा।

औरत के जीवन का वह चित्र किसी भी समुदाय या प्रदेश में रंग नहीं बदलता है जिसमें उसे सबसे बाद में बचा-खुचा भोजन खाते हुये दिखाया जाता है, पोषण महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है कि वह बासी भोजन को व्यर्थ जाने से बचायेगी। जिस सामाजिक और पारिवारिक माहौल में वह रहती है, वह माहौल उसके दुखदायी भविष्य की रूपरेखा तैयार करता है। पोषण, सुरक्षा, मनोरंजन और स्वतंत्रता के अभाव में एक बीमार जीवन पनपने लगता है। यही जीवन वृद्धावस्था में हर तरह से असुरक्षित होता है। प्रजनन अपने आप में प्रकृति की सबसे सार्थक और रचनात्मक विशेषता है और स्त्री उस विशेषता की वाहक है।

वास्तविकता यह है कि यही विशेषता उसके लिये सबसे ज्यादा पीड़ादायक क्षण पैदा करती है। शरीर का दर्द हो चाहे मन की पीड़ा या फिर समाज की शंकायें; सब कुछ प्रजनन से ही जुड़ा हुआ है। और सच यह है कि 57 फीसदी महिलाओं का प्रसव ही प्रशिक्षित दाई करवाती हैं और 77 प्रतिशत को गर्भावस्था के दौरान किसी तरह की चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाने की जरूरत महसूस नहीं की जाती। हर दस हजार महिलाओं में से 54 महिलायें प्रसव के दौरान जीवन त्याग देती हैं और हर 48 में से एक महिला की मृत्यु का कारण भारत में गर्भावस्था या प्रजनन से जुड़ी समस्याएँ होती हैं। माहवारी का मामला हो चाहे प्रजनन का, उसके जीवन की व्यवस्था परम्परा, मान्यताओं और रूढ़ियों से तय होती है; जिनके मानवीय होने पर बहुत बड़े सवाल हैं। यह स्थिति बहुत गंभीर है क्योंकि उसे भोजन का अधिकार नहीं है।

### राशन का कुशासन

उच्चतम न्यायालय के आदेशों की अवहेलना करते हुए प्रदेश में इस समय प्रत्येक बीपीएल परिवार को 35 किलोग्राम की जगह केवल 20 किलोग्राम, और कहीं-कहीं तो 15-18 किलोग्राम तक ही अनाज दिया जा रहा है। राज्य सरकार का तर्क है कि हमारे यहां पर गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले परिवारों की संख्या लगभग 67 लाख है। जबकि केन्द्र सरकार केवल 41.25 लाख परिवारों के लिए ही राशन भिजवाती है। राज्य सरकार इसी बात पर वाहवाही लूटने में लगी है कि केंद्र के गैरजवाबदाराना व्यवहार के बवाजूद भी कम से कम 18-20 किलोग्राम खाद्यान्न तो हर परिवार को उपलब्ध करवा ही रहे हैं। लोगों के मुंह की रोटी छीनने का यह एक मिलीजुली साजिश है। इसमें केन्द्र और राज्य सरकारें दोनों ही बराबरी से शामिल हैं। फिलहाल प्रदेश के शहरी क्षेत्रों में 3800 तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 16511 राशन दुकानें ही चल रही हैं। प्रदेश के 52143 गांवों में से महज 31 प्रतिशत गांव ही सीधे रूप से राशन व्यवस्था का लाभ ले पाते हैं। राशन दुकान से मोटे अनाजों का वितरण भी नहीं हो पा रहा है ताकि लोगों को स्थानीय रूप से उपलब्ध व सांस्कृतिक-पारम्परिक रूप से स्वीकार्य खाद्यान्न मिले। लेकिन राज्य सरकार ने ऐसी कोई भी व्यवस्था ही नहीं की।



उच्चतम न्यायालय ने 23 जुलाई 2001 को अपने एक आदेश के जरिये सरकार से कहा था कि 6 विशेष समूहों को अन्त्योदय अन्न योजना में शामिल करें। ये समूह हैं:

1. बूढ़े, लाचार, विकलांग, बेसहारा पुरुष व महिलायें, गर्भवती व धात्री महिलायें
2. विधवा व एकल महिलायें, जिनका कि कोई सहारा नहीं है।
3. 60 साल व उससे ऊपर के बेसहारा व्यक्ति जिनके पास आजीविका का कोई नियमित साधन नहीं है।
4. वे परिवार जिनमें कोई भी विकलांग व्यक्ति है।
5. ऐसा परिवार जहां वृद्धावस्था, शारीरिक व मानसिक बीमारी, सामाजिक रीति-रिवाजों व विकलांगता की हालत में कोई देखने-सम्भालने वाला न हो तथा अन्य किन्हीं वजहों से कोई ऐसा व्यक्ति है जो कि घर के बाहर कमाई के लिये न जा सके।
6. समस्त आदिम जनजातियाँ।

सरकार ने अब तक इनमें से केवल आदिम जनजाति समूहों इस योजना में शामिल किया है। बाकी किसी की ईमानदारी से चर्चा तक नहीं की है। उच्चतम न्यायालय के एक अन्य आदेश (2 मई 2003), में कहा है कि समस्त राशन दुकानें पूरे माह अनिवार्य रूप से खुलें और उनसे राशन भी मिले। इसकी अवहेलना करते हुये सरकार ने मुरैना मॉडल को अपनाया। मुरैना मॉडल यानी मुरैना जिले में स्थानीय जिलाधीश ने सप्ताह में केवल दो दिन राशन दुकानें खोलने का निर्णय लिया था। सरकार ने पूरे मध्यप्रदेश में यही मॉडल अपनाने की बात कही थी। व्यापक विरोध के बावजूद सरकार ने 9 जून 2009 को संपन्न मंत्रिमण्डल की बैठक में राशन दुकानों को पुनः पूरे माह खोलने का निर्णय लिया लेकिन अब भी यह निर्णय क्रियान्वित नहीं हो रहा है। प्रदेश में अभी भी कहीं पर से लोगों को किशतों में अनाज लेने की सुविधा नहीं है।



# भुखमरी का चेहरा

## खाद्य सुरक्षा का एक संदर्भ

« सचिन कुमार जैन

**र** वतंत्रता के बाद भारत का पहला बजट 200 करोड़ रुपये का था। 60 वर्षों में बजट का आकार 5000 गुना बढ़कर वर्ष 2009 में 10 लाख करोड़ रुपये पर पहुंच गया। फिर भी गरीबी और भुखमरी की दर्द-ए-तस्वीर नहीं बदली। यहां आज भी रोज 36 करोड़ लोग भूखे पेट सोते हैं। बजट 5000 गुना बढ़ा पर अनाज उत्पादन केवल चार गुना ही बढ़ पाया। ग्रामीण भारत में 23 करोड़ लोग आधा पेट खाकर जी रहे हैं। 50 फीसदी बच्चे सिर्फ इसलिए मर जाते हैं कि उन्हें पूरा खाना नहीं मिलता। 15 से 49 वर्ष की आयु वर्ग में हर तीसरा व्यक्ति कमजोर है, जिनका बॉडी मास इंडेक्स 18.5 से कम है। आज सरकार लगभग 22.8 करोड़ टन अनाज उत्पादन के लक्ष्य को हासिल करने की जद्दोजहद में है, जबकि वर्ष 2015 में सबका पेट भरने के लिए 25 से 26 करोड़ टन अनाज की जरूरत होगी। यह लक्ष्य शायद ही पूरा हो सकेगा। भारत वैश्विक भुखमरी सूचकांक के संदर्भ में 119 देशों की सूची में 94 वें स्थान पर आता है। दुनिया की कुपोषित जनसंख्या का 27 प्रतिशत भारत में है। कुपोषित बच्चों का दुनियावी औसत 25 प्रतिशत है पर भारत में 46 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। भारत में 5 वर्ष से कम उम्र के 70 फीसदी बच्चों में खून की कमी है और 80 फीसदी बच्चों को विटामिन 'ए' की खुराक नहीं मिलती है।

विश्व खाद्य कार्यक्रम की ताजा रिपोर्ट बताती है कि वास्तव में खून की कमी के शिकार बच्चों की संख्या भारत में 6 प्रतिशत बढ़ गई है। देश के 19 में से 11 राज्यों में 80 प्रतिशत से ज्यादा बच्चे एनीमिया के शिकार हैं। पिछले छह वर्षों से भारत में ऊर्जा की सतत कमी (क्रोनिक् एनर्जी डेफिशियेंसी) का प्रकोप 40 फीसदी महिलायें लगातार भोग रही हैं। इसमें कोई कमी नहीं आई। विकास में आई तेजी ने आम लोगों की जिन्दगी पहले से भी धीमी कर दी है।

### मध्यप्रदेश

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के मुताबिक मध्यप्रदेश में 5 वर्ष से कम उम्र के 60

फीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। संकट यह है कि वर्ष 1998-99 में हुये राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (2) की तुलना में वर्ष 2005-06 में हुये राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (3) के परिणामों के मुताबिक बच्चों में कुपोषण 6 प्रतिशत बढ़ गया। इसी तरह मध्यप्रदेश में खून की कमी (एनीमिया) के शिकार बच्चों की संख्या 1998-99 में 71.3 प्रतिशत थी जो वर्ष 2005-06 में बढ़कर 82.6 प्रतिशत हो गई।

खाद्य सुरक्षा का क्रय शक्ति से सीधा सम्बन्ध है और क्रय शक्ति तय होती है व्यक्ति की आय से। मध्यप्रदेश में वर्ष 1999-2000 में प्रति व्यक्ति आय 12384 रुपये थी जो वर्ष 2007-08 में बढ़कर महज 14346 रुपये हो पाई है जबकि इस दौरान उपभोक्ता मूल्य सूचकांक के मुताबिक जीवनयापन के लिये होने वाला खर्च दोगुना से ज्यादा बढ़ा है। ग्रामीण मध्यप्रदेश के हालात तो और भी बदतर हैं। राज्य के गांवों की प्रति व्यक्ति आय केवल 8879 रुपये ही है।

### खाद्य सुरक्षा का व्यापक दायरा

खाद्य सुरक्षा हर व्यक्ति का मूलभूत अधिकार है। हर किसी को निर्धारित समय पर पोषक तत्वों से परिपूर्ण भोजन की जरूरत होती है। खेती और खाद्य पर मंडरा रहे खतरे को देखते हुए पर्याप्त मात्रा में अनाज के भण्डार सुरक्षित हों, और जिसे जरूरत पड़ने पर तत्काल जरूरतमंद लोगों तक सुव्यवस्थित तरीके से पहुंचाया जा सके। राज्य के अनाज गोदाम इसलिये भरे हुए नहीं होना चाहिए कि लोग उसे खरीद पाने में सक्षम नहीं हैं। अनाजों का भंडारण और फिर वितरण की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि वह सामाजिक सुरक्षा की एक भरोसेमंद व्यवस्था दे सके। यदि समाज की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित रहेगी तो लोग अन्य रचनात्मक प्रक्रियाओं में अपनी भूमिका निभा पायेंगे। इसके लिए जरूरी है कि उत्पादन का वातावरण बेहतर और किसानों के पक्ष में हो और खाद्यान्न के दाम लोगों की जेब के हिसाब से बांधे जाए। इसके लिये उत्पादन व्यवस्था को बाजार नहीं, समाज की जरूरत के मुताबिक होना होगा। इसके बिना न तो खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित होगी और न ही भूख एवं भुखमरी से मुक्ति।

2003 में 21 करोड़ टन अनाज उत्पादन के बाद सरकार ने पूरी दुनिया के सामने घोषणा कर दी थी कि भारत खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गया है। परन्तु इसी दौरान 1980 की तुलना में 1990 के दशक में कृषि उत्पादन में कमी दर्ज की गई। जहां 1980 के दशक में उत्पादन वृद्धि की दर 3.54 प्रतिशत थी वहीं 1990 के दशक में घटकर 1.92 प्रतिशत पर आ गई। इतना ही नहीं, उत्पादकता की दर पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ा। 1980 में उत्पादन की दर में सुधार की दर 3.3 प्रतिशत थी जो 1990 के दशक में घटकर 1.31 प्रतिशत हो गई। 1960 के दशक में हरित क्रांति के दौर में किसानों ने उच्च उत्पादन क्षमता वाले बीजों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और मशीनों का उपयोग करके प्रगति की तीव्र गति का जो रास्ता

अपनाया था, अब उसके नकारात्मक परिणाम आने शुरू हो गये हैं। इन साधनों से न केवल मिट्टी की उर्वरता कम हुई बल्कि कृषि की पारम्परिक व्यवस्था भी हिल गई। सवाल यह है कि अगर हमने इतना विकास किया है कि उत्पादन 5 करोड़ टन से बढ़कर 20 करोड़ टन हो गया तो प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता 1951 में 395 ग्राम प्रति व्यक्ति से बढ़कर केवल 442 ग्राम तक ही क्यों पहुंच पाई? और अब यह तेजी से और नीचे गिर रही है।

### भारत में खाद्यान्न और दाल की सकल उपलब्धता

तालिका-2

वर्ष	प्रति व्यक्ति एकल उपलब्धता (ग्राम प्रतिदिन)			सभी तिलहन वनस्पति (किलोग्राम)	शक्कर (किलोग्राम)
	अनाज	दालें	कुल खाद्यान्न		
1951	334.2	60.7	394.9	3.2	5.0
1961	399.7	69.0	468.7	4.0	4.8
1971	417.6	51.2	468.8	4.5	7.4
1981	417.3	37.5	454.8	5.0	7.3
1991	468.5	41.6	510.1	6.4	12.3
1992	434.5	34.3	468.8	6.5	12.7
1993	427.9	36.2	464.1	6.4	13.0
1994	434.0	37.2	471.2	6.8	13.7
1995	457.6	37.8	495.4	7.1	12.5
1996	442.5	32.7	475.2	7.3	13.2
1997	466.0	37.1	503.1	8.0	14.1
1998	414.2	32.8	447.0	9.0	14.6
1999	429.2	36.5	465.7	7.2	14.6
2000	422.7	31.8	454.4	9.8	14.6
2001	386.2	30.0	416.2	10.40	15.6
2002	458.7	35.4	494.1	9.4	15.8

2003	408.5	29.1	437.6	14.36	19.54
2004	426.9	35.8	462.7	24	13.29
2005	390.9	31.5	422.4	22.8	12.14
2006	412.8	32.5	445.3	25.68	17.52
2007	407.4	35.5	442.8	21.26	20.23

(स्रोत: भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण 2008-09)

कहा जा रहा है कि आज लोग अण्डे, मांस और दूध ले रहे हैं इसीलिए अनाज उपभोग में गिरावट चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए। यह सच नहीं है। निम्न और मध्यम वर्ग यानी आबादी का 70 प्रतिशत हिस्सा अभी भी अपने भोजन से न्यूनतम कैलोरी हासिल नहीं कर पा रहा है। गरीबी को मापने का सबसे अहम सूचक यही रहा है।

### तालिका-3

#### ग्रामीण इलाकों में प्रति व्यक्ति कैलोरी उपभोग – औसत

वर्ग	19972-73	1977-78	1983-84	1993-94	1999-2000
निम्न वर्ग	1504	1630	1620	1678	1626
मध्यम वर्ग	2170	2296	2144	2119	2009
उच्च वर्ग	3161	3190	2929	2672	2463
कुल	2268	2364	2222	2152	2030

#### अनाजों और दालों की शुद्ध उपलब्धि

खाद्य सुरक्षा की दृष्टि से खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है। आंकड़ों से स्पष्ट है कि 1955-56 के दौरान खाद्यान्नों का औसत वार्षिक आयात 23 लाख टन था, जो 1961-62 से 1965-66 के दौरान बढ़कर 51 लाख टन हो गया और 1966-67 से 1970-71 के दौरान 64 लाख टन हो गया। 1971-72 से 1975-76 के दौरान यह कम होकर 36 लाख टन हो गया। जो थोड़ा-बहुत उत्पादन समय-समय पर बढ़ा वह भी लोगों के लिए उपलब्ध नहीं रहा। 1950-51 से 1955-56 के दौरान खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि 419 ग्राम प्रतिदिन थी जो 1996-97 और 2000-01 के दौरान बढ़कर 451 ग्राम हो गई। इससे स्पष्ट होता है कि 50 वर्षों की अवधि में खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि में लगभग 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके दो अहम अंग हैं— अनाज और दालें। अनाजों की प्रति व्यक्ति

उपलब्धि जो 1950-51 और 1955-56 के दौरान 394 ग्राम प्रतिदिन थी बढ़कर 1996-97 और 2000-2001 के दौरान 418 ग्राम हो गई। खाद्यान्न (अनाज व दालें) की प्रति व्यक्ति वास्तविक जरूरत लगभग 520 ग्राम होती है और 2007 में भारत में कुल खाद्यान्न (अनाज व दालें) का प्रति व्यक्ति उत्पादन 493 ग्राम रहा, किन्तु प्रति व्यक्ति उपभोग महज 389 ग्राम रहा। लोगों के पास खरीदने की ताकत ही नहीं रही। यहां के लोगों की भोजन की एक चौथाई थाली अब भी खाली है। इस प्रकार 50 वर्षों की अवधि में प्रति व्यक्ति अनाज उपलब्धि में 20-25 प्रतिशत की वृद्धि तो हुई, परन्तु अनाज लोगों की पहुंच से दूर ही रहा।

दालों के संदर्भ में प्रति व्यक्ति उपलब्धता 1950-51 और 1955-56 के दौरान 65 ग्राम प्रतिदिन थी, जो गिरकर 2007 के दौरान 35.5 ग्राम हो गई। 50 वर्षों की अवधि में दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि में 50 प्रतिशत की कमी आई। नौवीं पंचवर्षीय योजना में शंका जाहिर की गई थी कि दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता में कमी के कारण प्रोटीन के उपभोग में कमी हो सकती है। ऐसा ही हुआ भी। मोटे अनाज, जिनकी उत्पादन लागत कम है, जो कम महंगे भी हैं, पर अधिक कैलोरी और पोषक तत्व उपलब्ध करा सकते हैं, उन्हें सार्वजनिक वितरण प्रणाली में शामिल नहीं किया गया है। यदि इन्हें सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत रियायती दरों (Subsidized rates) पर उपलब्ध कराया जाए तो वे स्वयं-लक्षित बन सकेंगे। गरीब से गरीब भी अपनी भूख कम कर सकेगा और कैलोरी का स्तर बढ़ा सकेगा।

### क्यों नहीं गल रही हैं दालें?

फिलहाल बाज़ार में दालें 60 से 100 रुपए किलो के भाव से बिक रही हैं। जिस देश में केवल उसी परिवार को गरीब माना जाता हो जो हर रोज़ 12 रुपए से कम खर्च करता हो, वहां दाल अब विलासिता की एक वस्तु हो गई है। हमारे यहां प्रोटीन की जरूरत को पूरा करने का सबसे अहम स्रोत दाल ही है। इसकी कमी प्रोटीन की कमी से होने वाले कुपोषण को बहुत ऊपर पहुंचा देगी। अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी की रिपोर्ट बताती है कि 77 फीसदी जनसंख्या रोज़ 20 रुपए से कम कमाती और जीवनयापन करती है, ऐसे में उनकी थाली में दाल केवल एक कल्पना मात्र है। सरकार की जिम्मेदारी बनती है कि वह रियायती दरों पर इन्हें दाल उपलब्ध करवाए। मोटे अनाज के अलावा प्रोटीन की जरूरत को पूरा करने के लिए दालों (दलहन) और भारतीय सन्दर्भ में वसा के लिए खाद्य तेलों की अहम उपयोगिता है, जिस पर कोई समझौता नहीं किया जा सकता है। भारत में एक वयस्क पुरुष को 50 ग्राम दाल और वयस्क महिला को 45 ग्राम दाल की न्यूनतम जरूरत होती है। इन्हीं मापदंडों के आधार पर किये गए एक आकलन के मुताबिक 5 सदस्यों के एक परिवार को हर महीने कम से कम 6 किलो दाल और 3 से 3.5 किलो खाद्य तेल की जरूरत होती है। इस जरूरत को खाद्य सुरक्षा कानून के जरिये पूरा किया जाना चाहिए।

आई सी एम् आर (इंडियन काउंसिल फॉर मेडिकल रिसर्च) के मापदंडों के मुताबिक शरीर श्रम करने वाले पुरुष वयस्कों के लिए 460 से 520 ग्राम अनाज और महिला वयस्कों के 410 से 440 ग्राम अनाज की आवश्यकता होती है। इस हिसाब से 5 सदस्यों वाले एक परिवार को हर माह कम से कम 55 किलो अनाज की आवश्यकता पड़ती है। इस मान से खाद्य सुरक्षा कानून में 50 किलो का प्रावधान करना एक अनिवार्यता होना चाहिए। दालें भारत की बुनियादी खाद्य जरूरत है, और यह जरूरत भारत में ही उत्पादन करके पूरी की जाना चाहिए न कि आयात जैसा कि आज हो रहा है। दुनिया भर की मंदी ने सबसे सीधा असर भारत में दालों की कीमत पर डाला है, क्योंकि भारत की जरूरत 180 लाख टन दाल की होती है पर उत्पादन केवल 125 लाख टन के आसपास है। यहां लोगों की आय बढ़ती हुई दिखाई जा रही है, परन्तु दालों के उपभोग में गंभीर गिरावट दिखाई दे रही है। वर्ष 1958-59 में दालों का उपभोग 27.3 किलोग्राम प्रति वर्ष था जो अब गिर कर मात्र 12.7 किलो प्रतिवर्ष पर आ गया। एसोचेम नामक एक औद्योगिक संगठन ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि दालों के उत्पादन क्षेत्र में हो रही कमी और बढ़ती कीमतों के कारण दालों के उपभोग में यह गिरावट जल्दी ही 11 किलो तक आ जायेगी और कुछ ही महीनों में 9 किलो प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष के निचले स्तर तक आ जायेगी। इसका मतलब है कि समाज में पोषण की और कमी यानी कुपोषण में और बढ़ोतरी। उल्लेखनीय है कि 1960 का 27 किलो का स्तर भी जरूरत के हिसाब से कम ही माना जाता था। यह सरकार की अदूरदर्शिता ही है कि नवीं पंचवर्षीय योजना में दालों के उत्पादन की महत्ता को महसूस करने के बाद भी इसके उत्पादन को बढ़ाने की पहल नहीं की गयी। मौजूदा खाद्य सुरक्षा मिशन में भी गेहूं और चावल पर ही जोर दिया गया है, दाल पर नहीं। उत्पादकता के लिहाज से 1967 की हरित क्रान्ति के बाद गेहूं (2.8 प्रतिशत), चावल (2 प्रतिशत), तिलहन (1.88 प्रतिशत), और मक्का (10.7 प्रतिशत), की उत्पादकता में बढ़ोतरी हुई पर दालों की उत्पादकता में (1.14 प्रतिशत) की ही दर से मिश्रित वार्षिक वृद्धि हुई।

उड़द की दाल अभी 4000 से 4200 रुपए क्विंटल है, जो बढ़ कर 4800 से 5000 होने वाली है क्योंकि इस बार 16.39 लाख हेक्टेयर में इसकी बुआई होना थी पर वास्तव में 15.66 लाख हेक्टेयर में ही हुई। सरकार ने अनुमान किया था कि 2007-08 में 14.6 लाख टन उड़द का उत्पादन होगा पर अब माना जा रहा है कि यह 11.1 लाख तो ही रह गया है और भारत में उड़द की 14.5 से 15.5 लाख टन खपत होती है। ऐसे में भारत को बड़ी मात्रा में उड़द दाल का आयात करना पड़ेगा। भारत में औसतन 125 से 130 लाख टन दालों का उत्पादन होता है जिसमें से 40 लाख टन खरीफ में और रबी में लगभग 80 से 85 लाख टन पैदावार होती है। इसमें चना दाल सबसे ज्यादा (57 लाख टन) होती है फिर तुअर (25 लाख टन) मूंग (12 लाख टन) मंसूर और उड़द (11-11 लाख टन) दालों की पैदावार होती है। मटर एवं अन्य दालें कुल मिलाकर लगभग 11 लाख टन होती है। वर्ष 2007-08 में

कुल दालों का उत्पादन 147 लाख टन हुआ और 2008-09 में 155 लाख टन के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया किन्तु जल्दी ही इस लक्ष्य को घटाकर 141 लाख टन कर दिया। अनुमान है कि वास्तव में 130 लाख टन दालें ही पैदा होंगी। वर्ष 2009-10 के मानसून ने जो रूप बताया है उसके मुताबिक दालों का उत्पादन और कम होना तय है। दालों के उत्पादन में हर साल 4 से 8 प्रतिशत की दर से कमी हो रही है।

जो स्थिति दिख रही है, उसके मुताबिक आयात एक स्थाई जानलेवा व्यवस्था का रूप ले रही है। 1980-81 में हमने 1.73 लाख टन दालों का आयात किया था, जो 2006-07 में बढ़ कर 22.56 लाख टन हो गया। देश में उत्पादन को ना बढ़ा कर सरकार दालों के अन्तर्राष्ट्रीय खिलाड़ियों को सोच समझ कर फायदा पहुंचा रही है। दालों की कमी के नाम पर आयात शुल्क भी शून्य कर दिया गया जिससे सरकारी खजाने को और भी कई नुकसान पहुंचा। अब कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, म्यांमार जैसे देश दालें इसीलिए पैदा कर रहे हैं क्योंकि भारत से फायदा उठाया जा सकता है। देश में कमी की बावजूद भारत सरकार दालों का निर्यात भी करती रही। 1980-81 में 1.09 हजार टन निर्यात हुआ जो वर्ष 2005-06 में बढ़ कर 447.44 हजार टन हो गया। जब कीमतें आसमान पर पहुँच गयी तब जाकर दाल निर्यात पर रोक लगायी गयी, पर जमाखोरी अब भी जारी है।





# सूखी धरती; भूखे लोग

« सचिन कुमार जैन

**म**ध्यप्रदेश खाद्यान्न के लिए कभी दूसरे राज्यों पर निर्भर नहीं रहा है। वहां के लोग धरती को मां और खेती किसानों को जीवन का सम्मान देते रहे हैं।

पिछले एक दशक में विकास की बदलती परिभाषा जब से जमीन और खेती को मुनाफा कमाने का जरिया बना दिया है तब से खेती/किसानी मार खाने लगी है और भूख एक स्थाई समस्या बन गई है। बदलती जलवायु ने भी पिछले 10 वर्षों में इस राज्य के कम से कम 14 जिले हर साल गंभीर सूखे की चपेट में लपेट लिये हैं। पिछले साल 50 में से 39 जिले सूखे की चपेट में थे। इस साल 23 जिले इस संकट में हैं। पिछले चार वर्षों से पानी न बरसने और तापमान बढ़ने से बुंदेलखण्ड परेशान रहा अब मालवा अंचल तड़प रहा है।

पिछले वर्ष 2003-04 से 2008-09 के बीच 6 वर्षों में खाद्यान्न उत्पादन में चिंताजनक कमी आई है। वर्ष 2003-2004 में मध्यप्रदेश में कुल जमा 1.59 करोड़ टन अनाज का उत्पादन हुआ था। जिसमें गेहूं, चावल सहित, ज्वार, बाजरा और मक्का जैसे मोटे अनाज शामिल हैं। किन्तु अगले साल यानी 2004-05 में यह घटकर 1.42 करोड़ टन रह गया। अनाज उत्पादन के संदर्भ में यह महज एक-या-दो वर्षों का उतार-चढ़ाव नहीं है। वर्ष 2005-06 में मध्यप्रदेश में अनाज उत्पादन में और कमी आयी और कुल उत्पादन घटकर 1.37 करोड़ टन रह गया। पिछले साल मध्यप्रदेश में 1.22 करोड़ टन अनाज की पैदावार हुई। यदि कृषि उत्पादन और भू-अभिलेख विभाग के इन आंकड़ों को आधार बनाया जाये तो पता चलता है कि आधे दशक में मध्यप्रदेश में अनाज के उत्पादन में 23.08 प्रतिशत की कमी आई है, यानी एक चौथाई थाली खाली हो गई।

इसी अवधि में जमीन की उत्पादकता यानी उसकी उत्पादन की क्षमता पर भी नकारात्मक संकेत नजर आ रहे हैं। वर्ष 2003-04 में जहां एक हेक्टेयर में 1248 किलो अनाज का उत्पादन हो रहा था वह पिछले वर्ष घटकर 1087 किलो रह गया। इसका मतलब यह है कि कहीं न कहीं हम कृषि भूमि की उर्वरता का भी सही ढंग

से प्रबंधन-संरक्षण नहीं कर पा रहे हैं। ताजा परिस्थितियों में मध्यप्रदेश में 25.44 लाख हेक्टेयर भूमि का खेती-किसानी के लिये सही उपयोग होता है पर उसमें केवल 14.83 लाख हेक्टेयर जमीन पर ही बुआई हो पाई। संकट यह है कि राज्य में केवल 6.543 लाख हेक्टेयर खेती की जमीन ही सिंचित है और शेष पूरी तरह से मानसून की वर्षा पर निर्भर है।

अब चूंकि कभी 19, कभी 23 तो कभी 39 जिले सूखे के साये में रहते हैं, तो इसका सीधा प्रभाव कृषि उत्पादन पर पड़ता नजर आता है। उल्लेखनीय है कि सिंचाई क्षमता विकसित करने के लिये मध्यप्रदेश में बड़े बांधों की एक पूरी श्रृंखला खड़ी कर दी गई है पर अब पता चल रहा है कि वास्तव में उन परियोजनाओं से सिंचाई में उतनी बढ़ोतरी नहीं हुई, जितना कि सरकारी विशेषज्ञों ने दावा किया था।

#### तालिका-4

##### मध्यप्रदेश में गेहूं उत्पादन में कमी (टन में)

जिला	1999-00	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04	2004-05	2005-06	2006-07	2007-08	9 सालों में उत्पादकता में आई गिरावट
	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन	उत्पादन
मध्यप्रदेश	8685197	4869362	6000966	4923414	7364600	7327400	6199700	7325900	6032500	-30.54

मध्यप्रदेश में गेहूं का उत्पादन आर्थिक और सामाजिक, दोनों ही नजरियों से मायने रखता है। देश के कुल गेहूं उत्पादन में लगभग 10 से 11 प्रतिशत का रहा है। किन्तु पिछले 9 वर्षों यहां गेहूं की पैदावार में भी भारी गिरावट दर्ज की गई है। वर्ष 1999-2000 में जब छत्तीसगढ़ भी मध्यप्रदेश का हिस्सा था तब गेहूं का कुल उत्पादन लगभग 87 लाख टन था जो विभाजन के कारण घटकर 50 लाख टन के आसपास आ गया। कुछ बेहतर परिस्थितियों और प्रयासों के चलते मध्यप्रदेश में 2003-04 में गेहूं का उत्पादन बढ़कर 73 लाख टन तक पहुंच गया परन्तु इसके बाद फिर से गिरावट शुरू हुई और पिछले साल गेहूं का उत्पादन 60.32 लाख टन रह गया। अब कृषि महज कम या ज्यादा बारिश का खेल नहीं रह गई है बल्कि तापमान में बढ़ोतरी भी चुनौतियां खड़ी कर रहा है।

सामान्यतः बुंदेलखण्ड के इलाके में दिसम्बर के ठण्डे महीने में अधिकतम औसत तापमान 25 डिग्री और न्यूनतम 11 डिग्री सेल्सियस तक रहता आया किन्तु इस साल यह 34 डिग्री और 20 डिग्री तक के स्तर को छू गया। कड़ाके की सर्दी और मावठा गिरना गेहूं की फसल की बेहतरी के लिये अच्छा माना जाता है किन्तु इस साल तो ठण्डी ने भी गर्मी का अहसास दिया। जिसके कारण गेहूं के उत्पादन में कम से कम 15 प्रतिशत की कमी का आकलन किया गया है।

उम्मीद की जा रही थी कि इस मर्तबा रबी की फसल के दौरान लगभग 66 लाख टन गेहूं का उत्पादन होगा किन्तु जनवरी 2009 के दूसरे पखवाड़े में जिस तरह तापमान में वृद्धि हुई उससे यह स्पष्ट हो गया कि अब उत्पादन 58 लाख टन तक घटकर आ जायेगा।

## तालिका-5

### अनाज उत्पादन व पैदावार की स्थिति : मध्यप्रदेश

अनाज में गेहूं सहित, ज्वार, बाजरा और मक्का जैसे मोटे अनाज शामिल (उत्पादन टन में तथा उत्पादकता किलोग्राम प्रति हैक्टेयर)												
जिला	2003-04		2004-05		2005-06		2006-07		2007-08		5 वर्षों में दर्ज गिरावट	
	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता
म.प्र.	15956900	1248	14292700	1140	13484200	1134	13745200	1168	12273900	1087	23.08	12.98

टीकमगढ़ के रामपाल बताते हैं कि निवाड़ी और टीला में भरपूर सब्जी पैदा होती थी, इसकी बढौलत क्षेत्र के हर व्यक्ति जौ और पेट भर कर गेहूं, चना, मटर के साथ कई तरह की सब्जियाँ भी खाता था। लेकिन वे अपने 40 बीघा खेत में पिछले चार सालों से आलू या लौकी की एक ही पैदावार ले पा रहे हैं। रामपाल ने पिछले साल किसान क्रेडिट कार्ड से इस आशा में कर्ज लिया था कि सब्जी की खेती से कमाई कर उसे चुका देंगे। लेकिन आज की तारीख तक वे कर्ज की एक भी किश्त अदा नहीं कर सके हैं। टीला गांव के ऐसे कई किसान हैं जो कुछ सालों पहले तक आत्मनिर्भर और संपन्न थे, अपनी आजीविका इज्जत से कमाते थे। आज वे रोजगार गारंटी योजना में भी काम नहीं कर पा रहे हैं। इससे उन्हें ठेस पहुंचती है। कल का मालिक आज का मजदूर बनना आसानी से तो गवारा नहीं ही कर पायेगा।

## तालिका-6

### मध्यप्रदेश में गेहूं की उत्पादकता में कमी

(किलोग्राम प्रति हैक्टेयर)										
जिला	1999-00 अविभजित मध्यप्रदेश	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04	2004-05	2005-06	2006-07	2007-08	9 सालों में उत्पादकता में आई गिरावट
	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता	उत्पादकता
म.प्र.	1863	1471	1620	1461	1879	1821	1710	1915	1683	-9.66

बीते एक दशक से मध्यप्रदेश में सरकार औद्योगीकरण व बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सहारे प्राकृतिक संसाधनों के शोषण में जुटी है। इस सिलसिले में हाल ही में हुए निवेशक सम्मेलनों में कुल साढ़े 3 लाख करोड़ रुपयों के 250 समझौतों पर दस्तखत किए गए हैं। इनमें से अधिकांश निवेशक यहां स्टील प्लांट, सीमेंट जैसे खनिज अयस्क आधारित उद्योग विकसित करने के इच्छुक हैं। यहां निवेश के लिए मंजूरी में एक धेला भी कृषि क्षेत्र के लिए निर्धारित नहीं किया गया है।

सरकार और कंपनियों की नजरें जहां इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर सस्ती जमीन की उपलब्धता, कच्चा माल, प्राकृतिक संसाधन, सस्ता मजदूर श्रम, खनन लाइसेंस आदि

पर टिकी हैं वहीं उन्हें इस बात की कोई परवाह नहीं कि इन निवेशों व गतिविधियों का यहां की जमीन, जल संसाधनों व कंपनियों पर क्या असर होगा।

सरकार इन निवेशों को बुंदेलखंड के सूखे की समस्या से निपटने के समाधान के रूप में देख रही है। उसका मानना है कि इन निवेशों के जरिए बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर पैदा होंगे जिससे स्थानीय लोगों की बदहाली दूर हो जाएगी। खेती पर निर्भर स्थानीय युवाओं को नए तरह के रोजगार में अपना हुनर दिखाने-सिखाने के लिए भारी निवेश की जरूरत पड़ेगी। सूखे की वजह से लोग पहले से ही परेशान हैं; ऊपर से बिजली की लगातार कटौती ! उधर सरकारी अधिकारियों का यह कहना जले पर नमक छिड़कने के समान है कि जहां खेती ही नहीं होती वहां बिजली की क्या जरूरत है। पिछले चार-पांच सालों में सूखे, अल्प वर्षा, बढ़ते तापमान व लचर सिंचाई प्रबंधन के चलते अनाज उत्पादन का हाल बदतर होता गया है। सरकारी नीतियों, लाभ कमाने की प्रवृत्ति तथा पर्याप्त जल संसाधनों के अभाव के चलते यहां कृषि के स्वरूप में काफी बदलाव आ गया है।



## हरित क्रांति के बाद

« सचिन कुमार जैन

कृषि यहां आत्मनिर्भरता का आधार और जीवन की रेखा रही है। 1960 के दशक से शुरू हुई हरित क्रांति के बाद राज व्यवस्था ने किसानों को अहसास करवाना शुरू कर दिया कि वे अकुशल हैं, क्योंकि वे खेती के विज्ञान और अर्थशास्त्र को नहीं समझते हैं। यह व्यवस्था भूल गई है कि खेती के विज्ञान को किसानों ने ही गढ़ा और रचा है, न की सरकारी प्रयोगशालाओं ने। हरित क्रांति मूलतः खेती के रासायनिकीकरण और मशीनीकरण के सिद्धान्त पर आधारित प्रक्रिया थी, जिससे कृषि का औद्योगिकीकरण हुआ और किसान असुरक्षित होता गया। हरित क्रांति ने किसानों से यह सोचने और समझने की क्षमता छीन ली कि उनके और समाज के लिये क्या सही है और क्या गलत!! इससे भी आगे बढ़कर हरित क्रांति ने भारत के किसान समाज से यह निर्णय करने का अधिकार भी छीन लिया कि वह खेती करना चाहता है, वह क्या और क्यों खेती करना चाहता है, वह कैसे और किस तरह खेती करना चाहता है। हरित क्रांति ने नीतियों के माध्यमों से देश के भीतर एक नया उपनिवेश खड़ा कर दिया जिसमें किसान और खेती इसके सबसे बड़े शिकार बने।

पारम्परिक तकनीक के तहत भारत में किसान मिश्रित और बहुफसली खेती करते रहे जिससे जैव विविधता भी बनी रही, जमीन की उत्पादकता भी और पोषण सुरक्षा भी। हरित क्रांति से यह व्यवस्था टूटी और केवल गेहूं, चावल को ही प्रोत्साहित किया गया। फिर थोड़ी बहुत मक्का भी बढ़ी। फसल चक्र टूटा क्योंकि सरकार ने यह सिखाना शुरू किया कि खेती से खूब कमाई होना चाहिये। तब नकदी फसलों को खाद्यान्न फसलों पर प्राथमिकता दी जाने लगी। जिन इलाकों में खूब अनाज होता था वहां आज चारों तरफ सोयाबीन और कपास बिखरा हुआ नजर आता है। पारम्परिक मोटा अनाज (जैसे— कोदो, कुटकी, ज्वार, बाजरा) तिलहन (तिल और अलसी) को गैर जरूरी, अलाभकारी और अनुपयोगी सिद्ध करने का प्रपंच रचा गया। ये फसलें पेट भरती थीं, पोषण देती थी, कम पानी और कम खाद लेती थी, पर इन्हें लगभग मिटा दिया गया। इससे पूरे खान-पान के तरीके बदल गये और बाजार यह

बताने लगा कि क्या खाना चाहिये! बाजार में ही लोगों की सेहत लुटी और बाजार ही सेहत का संरक्षक बन बैठा।

इस बात पर बहुत बहस होती रही है कि कृषि उत्पादन को बढ़ाना सबसे बुनियादी जरूरत है और इस राह में पारम्परिक कृषि सबसे बड़ी बाधा है। बार-बार यह सिद्ध करने की कोशिश की गई कि भारत में जितनी जमीन और संसाधनों का उपयोग होता है उसके अनुरूप उत्पादन नहीं होता है। इससे न तो किसानों को फायदा होता है न ही समाज को। इसलिये कृषि क्षेत्र में सुधार की जरूरत है। इसी सोच के आधार पर 1960 के दशक में हरित क्रांति की नींव पड़ी। हरित क्रांति ने कृषि क्षेत्र में तकनीक और कीटनाशकों/उर्वरक के उपयोग को बढ़ावा दिया। इससे उत्पादन तो बढ़ा पर लागत भी बढ़ी। बाजार सुरक्षित हुआ, समाज असुरक्षित और किसान बोझ बन गया।

भारत में कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता रहा है। पिछले दो दशकों से कृषि विज्ञान के छात्रों को यह पढ़ाया जा रहा है कि इस जुए से मुक्त होने के लिये हमें अमेरिकी कृषि विज्ञान अपनाना होगा। उर्वरक, कीटनाशक और ट्रैक्टर जैसी भारी मशीनरी से ही कृषि में सुधार होगा तथा किसानों और समाज को फायदा होगा। दरअसल उर्वरक, कीटनाशक, मशीनों और ट्रैक्टर का बाजार बहुत बड़ा है। उन्हें ही फायदा दिलाना हरित क्रांति का मुख्य मकसद रहा। यही मकसद अब खुले बाजार का प्राथमिक लक्ष्य बन गया। कृषि व्यवहार और तकनीकों में किस तरह बदलाव हुआ इसका एक उदाहरण धान की खेती की प्रक्रिया में आये बदलाव के रूप में देखा जा सकता है। पहले तो खेत में व्यापक रूप से धान के पौधों की बुआई की जाती थी परन्तु जब ट्रैक्टर के उपयोग को प्रोत्साहित किया गया तो बुआई के तरीके में भी बदलाव करना पड़ा। अब एक सीधी लाइन में निर्धारित अंतराल पर पौधे बोये जाते हैं ताकि ट्रैक्टर खेत में चल सके। इसी तरह पहले बहुत ही सीमित मात्रा में कीट या बीमारियां कृषि को नुकसान पहुंचाती थी और तब सिंचाई के स्रोतों के साथ ही कीटनाशकों या उर्वरकों का छिड़काव किया जाता था। जब नई कम्पनियां बाजार में आईं तो उन्होंने सबसे पहले कृषि विश्वविद्यालयों को अपने प्रभाव में लिया। इन संस्थानों को नई तकनीक का चमकदार ज्ञान दिया गया और कुछ अध्ययन इस ढंग से करवाये गये जिनसे यह सिद्ध होता था कि उत्पादन बढ़ाने के लिये किसानों को नये उपकरणों का उपयोग करना ही चाहिये। इतना ही नहीं यह बताया गया कि सेव, अनार, मक्का और गेहूं पर दवाओं का छिड़काव करने के लिये अलग-अलग तरह के नोजल का उपयोग करना चाहिये अन्यथा छिड़काव का कोई फायदा नहीं होता है। बाद में पता चला कि इसकी कोई जरूरत नहीं है।

इसी दौरान बीजों के उन्नयन और बेहतर बनाने के लिये भी कई कम्पनियां बाजार में आईं। अपनी पारम्परिक व्यवस्था में किसान अपने उत्पादन में से बेहतर, साफ, निश्चित आकार वाले बीजों का चुनाव करके सुरक्षित रखता रहा है। बाजार को पता था कि इस

व्यवस्था को तहस-नहस किए बगैर बीजों का बाजार खड़ा नहीं हो पायेगा। तब बेहतर बीज, संकर बीज और जीनान्तरित (बीटी बीजों) के उपयोग की एक प्रक्रिया शुरू हुई। अध्ययनों से यह सिद्ध करने की कोशिश की गई कि तकनीकी तौर पर विकसित बीज अच्छी उपज देते हैं। सबसे पहले कई कीटनाशक पेश किये गये। कीटनाशकों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया और कीटों की प्रतिरोधक क्षमता ज्यादा ठोस होती गई। अब जैव परिवर्धित बीजों का विकल्प रखा गया। बाजार ने बताया कि बीजों में ही कीटनाशक रसायन डाल दिए जायेंगे जो कीटों को पनपने ही नहीं देंगे। इन बीजों की फसलों के लिए विशेष किस्म के कीटनाशक तैयार किये गये। उन पर दूसरी किस्म के कीटनाशक काम ही नहीं करते। इससे एक ही कम्पनी (जो बीज बनायेगी वही कीटनाशक भी बेचेगी) की सत्ता स्थापित होना शुरू हुई। कृषि सुधार के इस पूरे दौर की राजनीति अब साफ नजर आने लगी है। 1960 में कपास के बीजों को 6 तरह के कीट परेशान करते थे पर 2006 में 60 तरह के कीट परेशान करने लगे हैं और हर कीट की क्षमता फसल बर्बाद कर देने की है। 1987 में इस बाजारवाद का भयानक चेहरा सामने आया जब आंध्रप्रदेश के वारंगल जिले में 37 किसानों ने आत्महत्या की। इन सबने कपास बोया था। फसल पर कीटों के प्रकोप ऐसा रहा कि 20-20 छिड़काव करने पड़े। फसल की लागत इतनी बढ़ी की उनके जीवन की उम्मीदें भी खत्म कर दी गईं।

खेती के पारम्परिक तरीकों की उपेक्षा के साथ ही रासायनिक खेती ने अपनी जड़ें जमाना शुरू किया। 2001 आते-आते कृषि उत्पाद तो इस जहर की गिरफ्त आ ही गये, पीने का पानी और सिंचाई के स्रोत भी नहीं बचे। आज मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और आंध्रप्रदेश के किसान महसूस कर रहे हैं कि रासायनिक पदार्थों के उपयोग के कारण वे कृषि की लाभप्रदता पर से अपना नियंत्रण लगभग खो चुके हैं। भारत में 1980 के दशक के मध्य में नकद खेती की नई अवधारणा की लहर चली थी और सरकार ने अपने सारे संसाधनों का उपयोग किसानों को यह समझाने में किया था कि वे कृषि का उत्पादन बढ़ाने में यूरिया, डीएपी और फॉस्फेट का भरपूर उपयोग करें और रासायनिक कीटनाशक ही फसलों के रोगों का सबसे बेहतर इलाज है। तब भी किसान जानता था कि यह रास्ता ठीक नहीं है और उसने इन पदार्थों का उपयोग करने से इनकार कर दिया। उस वक्त सरकार ने रासायनिक उर्वरक गांवों में यूं ही फिंकवा दिये, खेतों में निःशुल्क डालने के वायदे किये गये। 1982-87 के दौर का विश्लेषण करने से यह साफ हो जाता है कि एक सुनियोजित साजिश के तहत उन गांवों को बिजली, पानी और सड़क की सुविधा पहले दी गई जो सरकार की बात मानने लगे थे। इस तरह गांव कृषि की तथाकथित नई पद्धति का उपयोग करने लगे। इतना ही नहीं सरकार ने पहली बार सोयाबीन का उच्च गुणवत्ता का काला बीज दिया जिससे आश्चर्यजनक उत्पादन होता है पर दूसरी बार से सफेद बीज दिया जाने लगा, इसी दौरान किसानों को मोटर पर सब्सिडी दी गई ताकि किसानों को अपना निर्णय बदलने का अवसर न मिले।

इसके बाद 1990 से सोयाबीन को सबसे लाभदायक नकद फसल के रूप में प्रचारित

किया गया। यह तीन माह में तैयार होकर लाभ देने वाली बेहतर फसल रही किन्तु लगातार सोयाबीन की खेती में किसान अपनी लागत भी नहीं निकाल पा रहा है। और शुरू हो गया है आत्महत्याओं का सिलसिला। यहां यह उल्लेख आवश्यक है कि मध्यप्रदेश की जलवायु सोयाबीन की खेती के लिए सबसे उपयुक्त मानी जाती है और यही कारण है कि यहां के किसान एक साल में निरन्तर और बार-बार यही फसल ले रहे हैं। वास्तव में सोयाबीन और रासायनिक कृषि पद्धति को एक जरिया बनाया गया है, हमारी सामाजिक अर्थव्यवस्था के विनाश का। सोयाबीन किसान को फायदा दे या न दे परन्तु उद्योगों को इसका कचरा भी मुनाफा देता है। वैसे तो हम यही मानते हैं कि सोयाबीन से खाने का तेल बनता है, किन्तु हम शायद यह नहीं जानते हैं कि तेल बनने की प्रक्रिया के हर चरण में निकलने वाले अवशिष्ट पदार्थ किसी न किसी मायने में आर्थिक लाभ देता है। यह सोया पदार्थ जानवरों के लिये एक पौष्टिक पदार्थ है और मध्यप्रदेश की भूमि से उपजे सोयाबीन का डी.ओ.एल. केक सबसे पौष्टिक माना जाता है, फिर इसी से सोयामिल्क, बिस्किट और खाद्य पदार्थ बनते हैं। आमतौर पर सोयाबीन का तेल बनाने वाली कम्पनी ही यही उत्पाद भी बाजार में बेचती है। आर्थिक लाभ को देखते हुये भारत में भी ज्वार, मक्का और बाजरे की खेती तो लगभग खत्म सी हो गई है, इतना ही नहीं दो दशक पहले तक सबसे बेहतर नकद फसल मानी जाने वाली कपास भी इस विनाश से नहीं बच पाई। खान-पान और व्यवहार में आए इस बदलाव का प्रभाव हमारे समाज के स्वास्थ्य पर भी पड़ा है। आज 56 प्रतिशत महिलायें खून की कमी की शिकार हैं। खून को बनाने में सबसे सक्षम अनाज ज्वार, बाजरा और मक्का उत्पादन लगातार कम होता जा रहा है। इसका सबसे ज्यादा असर ग्रामीण महिलाओं पर पड़ता है।

भूमि सुधार कानून का इस्तेमाल भी आदिवासी, गरीब या किसान की बेहतरी के लिये नहीं बल्कि ग्रामीण समाज को उसकी सीमाओं का अहसास करवाने के लिए किया जा रहा है। इस कानून के जरिये गांवों में उद्योगों की स्थापना के दरवाजे खोले जा रहे हैं ताकि उद्योगपति गांव में सहजता से उपलब्ध पानी, सस्ते श्रम का शोषण कर सके। ऐसा उन्होंने किया भी। अब सरकार भी यह संदेश देने लगी है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को केवल सोयाबीन पर निर्भर नहीं होने दिया जाये किन्तु अब तो स्थिति नियंत्रण के बाहर हो चुकी है। पर अब तो किसान बाजार के जाल में फंस चुका है। ज्यादा लाभ कमाने के लिए सोयाबीन ही एक मात्र विकल्प के तौर पर नजर आ रहा है।

रासायनिक पदार्थों के उपयोग का नकारात्मक प्रभाव गेहूं, चना और सब्जियों की गुणवत्ता पर भी पड़ा है। पहले ग्रामीण क्षेत्रों में किसान अपने उत्पादन का संग्रह करके रख लेते थे ताकि सही दाम मिलने पर बेच कर लाभ कमाया जा सके। किन्तु अब उसमें घुन लग जाता है। पहले किसान के घरों में प्रकृति आधारित मिट्टी से बने संग्रह कक्ष हुआ करते थे जिनमें अनाज सुरक्षित रहता था अब उनकी जगह प्रशीतक संयंत्रों (कोल्ड स्टोरेज) ने ले ली है। जहां प्रति किलो और सप्ताह के हिसाब से



संग्रहण शुल्क देना पड़ता है। ऐसे में यदि किसान उसका संग्रह करेगा तो भी उसकी लागत तो बढ़ती ही जाना है यानी घाटे में बेचना ही उसके लिये अब फायदे का सौदा है। अब तो महीने भर बाद ही वह सड़ने लगता है क्योंकि उसके नैसर्गिक रोग प्रतिरोधक गुणों का हमने विनाश कर दिया है।

कृषि आधारित अर्थव्यवस्था से मुंह मोड़कर सरकार ने ही खाद्य असुरक्षा को विकराल संकट का रूप दे दिया है और अब इसका औद्योगीकरण करके इसके अस्तित्व को संकट का रूप दिया जा रहा है। पहली चुनौती तो फसलों के चयन में आये परिवर्तन से खड़ी हुई। पहले समाज को अन्न सुरक्षा प्रदान करने वाली ज्वार, बाजरा, मक्का, तिल, कोदो, कुटकी, तुअर, उड़द और चना जैसी फसलों को प्राथमिकता दी जाती थी। ये फसलें कीटनाशक, उर्वरक और अधिक पानी की जरूरत के भारी खर्चों से मुक्त तो थीं ही, साथ में तीन-चार साल के सूखे से निपटने की क्षमता भी उनमें थी। परन्तु किसान को समझाया गया कि विश्व बड़ा व्यापक है और नकद फसलों से ज्यादा आय प्राप्त करके वह विश्व की व्यापकता को भोग सकता है। परिणाम स्वरूप किसान समाज ने सोयाबीन, कपास और गन्ना जैसी नकद फसलों को सिर-आँखों पर बिठा लिया। नकद फसलों के बढ़ने से खाद्य सुरक्षा देने वाली फसलों के रकबे में 50 फीसदी तक की कमी आई और सरकार ने भी उन पर सब्सिडी देना लगभग बंद कर दिया जिससे ऐसी फसल लेने वाले किसान भी लाचार हो गये। शुरू के कुछ वर्ष जब तक मिट्टी की उर्वरता बनी रही, बारिश समय पर पर्याप्त मात्रा में होती रही तो किसान को लाभ होता रहा। परन्तु इन फसलों का असली चेहरा वैसा नहीं था जैसा शुरूआती छह-सात वर्षों में नजर आया। इन फसलों ने भूमि की उर्वरता को नष्ट किया, जमीन की नमी चुरा ली, भू-जल स्तर को 400 फिट गहरे तक उतार दिया, बाजार भी चूँकि नियंत्रण से मुक्त है इसलिये वहां भी किसान को कीमतों की मार झेलनी पड़ी। इसके बाद दूसरी चुनौती सामने खड़ी हुई नये किस्म के बीजों, उर्वरकों एवं रासायनिक कीटनाशकों के रूप में। शुरू-शुरू में इन कृत्रिम उर्वरकों एवं कीटनाशकों ने अपना प्रभाव दिखाया परन्तु उनका प्रभाव भी धीरे-धीरे समाप्त हो गया। नई सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अन्न सुरक्षा को तीसरी चुनौती का सामना करना पड़ा निरन्तर छोटी होती जोतों के रूप में। जैसे-जैसे समाज तरक्की करता गया वैसे-वैसे लोगों की जरूरतों ने रूप बदलना शुरू कर दिया। वर्ष 1981 से वर्ष 2001 के बीच जोतों के औसत आकार में 40 फीसदी का अंतर आया है यानी दस बीघे के खेत के आकार अब छह बीघे के रह गये हैं। 1996 में किये गये एक अध्ययन में यह बात सामने आई है कि पांच एकड़ के खेत का मालिक यदि आज केवल खेती के विकल्प पर आश्रित है तो वह चार वर्ष में अपने खेत को खोकर दस हजार रुपये का कर्जदार बन जायेगा। यदि परिस्थितियां अनुकूल रहें, यानी पर्याप्त बारिश हो, उपजाऊ मिट्टी, हो समय पर बुआई हो, भरपूर कीटनाशकों का प्रयोग किया जाये तब एक हेक्टेयर के खेत से वर्ष में 10 से 12 हजार रुपये की आय की अपेक्षा की

जा सकती है, अन्यथा घाटा ही नियति है।

पूरे विश्व में कृषि रोगों और खरपतवार को कीटनाशकों से खत्म करके अनाज, सब्जियां, फल, फूल और वनस्पतियों की सुरक्षा करने का नारा देकर कई प्रकार के कीटनाशक और रसायनों का उत्पादन किया जा रहा है। किन्तु इन कीटों, फफूंद और रोगों के जीवाणुओं की कम से कम पांच फीसदी संख्या ऐसी होती है जो खतरनाक रसायनों के प्रभावों से बच जाती है और इनसे सामना करने की प्रतिरोधक क्षमता हासिल कर लेती है। ऐसे प्रतिरोधी कीट धीरे-धीरे अपनी इसी क्षमता वाली नई पीढ़ी को जन्म देने लगते हैं जिससे उन पर कीटनाशकों का प्रभाव नहीं पड़ता है और फिर इन्हें खत्म करने के लिये ज्यादा शक्तिशाली, ज्यादा जहरीले रसायनों का निर्माण करना पड़ता है। कीटनाशक रसायन बनाने वाली कम्पनियों के लिये यह एक बाजार है। इस स्थिति का दूसरा पहलू भी है। जब किसान अपने खेत में उगने वाले अनाज, टमाटर, आलू, सेब, संतरे, चीकू, गेहूं धान और अंगूर जैसे खाद्य पदार्थों पर इन जहरीले रसायनों का छिड़काव करता है तो इसके घातक तत्व फल एवं सब्जियों एवं उनके बीजों में प्रवेश कर जाते हैं। फिर इन रसायनों की यात्रा भूमि की मिट्टी, नदी के पानी, वातावरण की हवा में भी जारी रहती है। ये मानव विनाशी खतरनाक रसायन सर्वव्यापी हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में हम भोजन, फल, पानी, हवा सभी के जरिये अनजाने में ही जहर का सेवन भी करते हैं। यह जहर, पसीने, श्वास, मल या मूत्र के जरिये हमारे शरीर से बाहर नहीं निकलता है बल्कि शरीर की कोशिकाओं में फैलकर लाइलाज रोगों और भांति-भांति के कैंसर को जन्म देता है। यदि कोई व्यक्ति आधा लीटर खरपतवार नाशक पी लेता है तो परिणाम केवल एक ही हो सकता है, दर्दनाक और दुखदायी मौत। ठीक यही स्थिति हर व्यक्ति के साथ संभव है। हर सेब, हर टमाटर और हर रोटी और सब्जी के साथ जहर की थोड़ी-थोड़ी मात्रा हमारे शरीर में प्रवेश कर रही है। आरम्भ में हम सामना करते हैं सिरदर्द, त्वचा समस्या, अल्सर और फिर कैंसर का। कई पश्चिमी देशों और भारत के कई राज्यों में इन कीटनाशकों ने लाखों लोगों को स्थाई रूप से बीमार बनाया है जिनमें से ज्यादातर मितली (नॉसी), डायरिया, दमा, साईंस, एलर्जी, प्रतिरोधक क्षमता में कमी और मोतियाबिंद की समस्या का सामना कर रहे हैं। कई मातायें भी अनचाहे ही अपने बच्चों को दूध पिलाते हुए जहर भी पिला रही हैं। मां का दूध भी इस जहर के प्रभाव से नहीं बच पाया है। जो पियेंगी वही तो पिलायेंगी। इसी वजह से बच्चों में शारीरिक विकलांगता के स्थाई लक्षण नजर आ रहे हैं। महिलाओं में स्तन कैंसर की वृद्धि हो रही है। उनके गर्भाशय तथा मासिक धर्म की नियमितता पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। उनकी अंतः स्रावी ग्रंथियां भी शिकार हो रही हैं। जबकि पुरुषों की प्रजनन क्षमता में निरंतर कमी आ रही है। पर्यावरण पौधों से प्राप्त निष्कर्षों से पता चलता है कि शरीर में ज्यादा भाग में जहरीले रसायन पहुंच जाने के फलस्वरूप विगत तीन वर्षों में भारत में गिद्धों की संख्या में 90 फीसदी की कमी आ गई है।

इस तरह के रसायनों का उत्पादन करने वाले ज्यादातर बड़े व्यावसायिक संस्थान संयुक्त राज्य अमेरिका से सम्बन्ध रखते हैं— जैसे ड्यूपां, अपजोन, फाइजर और ल्यूब्रीजोल। केवल ड्यूपां और उसकी सहायक संस्थाएँ 1.75 करोड़ पाउंड प्रदूषक रोज छोड़ते हैं, 1986 में इसने 34 करोड़ पाउंड जहरीले रसायन अमरीका की वायु, मिट्टी और पानी में डाले। यह कम्पनी क्लोरो फ्लोरो कार्बन (सी.एफ.सी.) का उत्पादन करने वाली सबसे बड़ी कम्पनी है। यह रसायन वातावरण की ओजोन परत में क्षय का सबसे बड़ा कारण रही है जिसकी वजह से कम से कम 4 लाख व्यक्ति त्वचा कैंसर से प्रभावित होंगे और मोतियाबिंद के मामले डेढ़ करोड़ बढ़ जायेंगे। इससे फसलों को भी गंभीर नुकसान होता है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि घातक जहर को छोटे-छोटे अक्षरों में पैक पर चेतावनी लिखकर बेचा जा रहा है। यह जानते हुये भी कि रासायनिक कीटनाशक मानव जीवन और प्रकृति को विनाश की ओर ले जा रहे हैं। जिन पदार्थों का उपयोग हम कीटों के विनाश के लिए कर रहे हैं, वह मानव के जीवन के लिये भी खतरा हो सकते हैं। और तो और उन रसायनों के उपयोग की विधि में यह भी लिखा जाता है कि इस रसायन का छिड़काव करते समय नाक एवं मुँह को कपड़े से, आंखों को मास्क से और हाथों को दस्तानों से ढक लें, यदि रसायन त्वचा से स्पर्श कर जाये तो तुरन्त दो-तीन बार साबुन से उसे धोयें और शीघ्र ही डाक्टर से इलाज करवायें क्योंकि यह एक जानलेवा जहर है। जो कीट के लिये इतना घातक हो सकता है, उसका पेड़-पौधों, नदियों, फलों, फूलों और हवा पर क्या प्रभाव पड़ता होगा, यह देखना भी जरूरी तो है। वास्तव में यह दुखदायी तथ्य है कि धनोपार्जन में व्यस्त यह कीटनाशक रसायन उत्पादन करने वाले संस्थान हमें सीधे जहर के सम्पर्क में न आने की चेतावनी दे रहे हैं और यही जहर सब्जियों, अनाज, फलों और पानी के जरिये हमारे शरीर में पहुंचाया जा रहा है।

भारत में ऐसे रसायनों का उपयोग हो रहा है जो पूरी दुनिया में प्रतिबंधित हैं जैसे डीडीटी, बीएचसी, एल्ड्रान, क्लोसडेन, एड्रिन, मिथाइल पैराथियोन, टोक्साफेन, हेप्टाक्लोर तथा लिण्डेन। इसका परिणाम यह है कि एक औसत भारतीय अपने दैनिक आहार में भोजन के साथ 0.27 मिलीग्राम डीडीटी भी अपने पेट में डालता रहा है। औसत भारतीय के शरीर के ऊतकों में एकत्रित हुये डीडीटी का स्तर 12.8 से 31 पीपीएम यानी विश्व में सबसे ऊंचा है। इसी तरह गेहूं में कीटनाशक का स्तर 1.6 से 17.4 पीपीएम, चावल में 0.8 से 16.4 पीपीएम, दालों में 2.9 से 16.9 पीपीएम, मूंगफली में 3.0 से 19.1 पीपीएम, साग-सब्जी में 5.00 और आलू में 68.5 पीपीएम तक डीडीटी पाया गया है। महाराष्ट्र में डेयरी द्वारा बोटलों में बिकने वाले दूध के 90 प्रतिशत नमूनों में 4.8 से 6.3 पीपीएम तक डिल्लीन भी पाया गया है। खेती में रासायनिक जहर के उपयोग के कारण नदियों का पानी भी जहरीला हो गया है। कर्नाटक के हसन जिले के तालाबों के पीने के पानी में तो 0.02 से लेकर 0.20 पीपीएम तक कीटनाशक पाये गये हैं जबकि कावेरी नदी के पानी में 1000 पीपीबी

(पाटर्स पर बिलियन) बीएचसी और 1300 पीपीबी पेरीथियोन पाया गया है। अब रासायनिक कीटनाशकों के प्रभावों पर हमें तर्कों के नहीं अपितु अनुभवों के आधार पर चर्चा करनी चाहिये।

### खेतों पर रासायनिक बारिश

मध्यप्रदेश के झाबुआ के पेटलावद ब्लॉक के खेत, फसल और किसान पूरी तरह से घातक रसायनों में डूब चुके हैं। यहां एक हेक्टेयर खेत में 600 से 800 किलोग्राम रासायनिक उर्वरक और 5 से 10 लीटर रासायनिक कीटनाशक छिड़के जा रहे हैं। झाबुआ के इस इलाके के किसान कपास, टमाटर, मिर्ची जैसी नकद फसलों से खूब फायदा लेने के लिये औसतन 6 से 8 गुना ज्यादा रासायनिक खाद इस्तेमाल कर रहे हैं। भारत में औसत उपयोग (94.4 किलो) है। मध्यप्रदेश के औसत से तुलना करें तो यह 10 से 12 गुना ज्यादा है। इतना ही नहीं देश में रासायनिक उर्वरकों का उपयोग करके सबसे ज्यादा उत्पादन करने वाले राज्य पंजाब (209.59 किलो) आंध्रप्रदेश (219.48) और तमिलनाडु (186.68 किलो) भी इससे कहीं कम रसायनों का छिड़काव करते हैं। झाबुआ में बेहद ऊंची लागत वाली नकद खेती का विस्तार होने से न केवल किसानों पर उनकी सालाना आय से चार गुना ज्यादा कर्ज हो गया है बल्कि खेतों के उपजाऊपन पर भी नकारात्मक असर पड़ा है।

लगातार सूखे के कारण उनके जीवन में अनिश्चितता बढ़ रही है क्योंकि मौजूदा फसलें ज्यादा पानी की मांग करती हैं, जो अब वहां आसानी से उपलब्ध नहीं है। इन परिस्थितियों में झाबुआ में कपास की प्रति हेक्टेयर औसत उत्पादकता 151 किलोग्राम के सबसे निचले स्तर पर आ गयी है, सोयाबीन की उत्पादकता राज्य के औसत से 35 फीसदी कम रह गई है। टमाटर की उत्पादकता भी कम होने लगी है, जिसे ज्यादा रसायन डालकर बढ़ाने की कोशिश हो रही है। पिछले तीन वर्षों में यहां रसायनों का उपयोग हर साल 60 किलो प्रति हेक्टेयर के मान से बढ़ा है। यहां कृषि विस्तार अधिकारी किसानों को मार्गदर्शन नहीं देते; यहां तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के एजेंट सीधे किसानों को प्रभावित करने में जुटे हुये हैं।

कभी खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने वाली दलहन, तिलहन और मोटे अनाज पैदा करने वाली झाबुआ की इस पट्टी में सरकार और बाजार के प्रोत्साहन के बाद किसानों ने चारों तरफ सोयाबीन, कपास, टमाटर और मिर्ची की फसलें लेना शुरू किया। शुरू-शुरू में तो फायदा हुआ पर बाद में घाटा होना शुरू हुआ। ये फसलें ऊंची लागत, ज्यादा निवेश, ज्यादा बीमारी की संभावना वाली और ज्यादा पानी पीने वाली फसलें रही हैं। इन खेती के उत्पादों को सरकार का कोई संरक्षण नहीं है। जिससे व्यापारी आदतिये अपनी मर्जी के मुताबिक इन किसानों का शोषण करते हैं। किसान क्या और कैसे पैदा करेगा यह तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियां तय कर ही रही हैं, साथ ही उस उत्पादन को कौन किस भाव से खरीदेगा, यह भी दिल्ली-मुंबई की मण्डी के व्यापारी तय करते हैं। वर्ष 2006-07 में पेटलावद में 50 पैसे प्रति किलो

के भाव से टमाटर खरीदा गया था, जो लागत से भी 75–100 फीसदी कम था। किसानों की अर्थव्यवस्था के मामले में कपास सबसे अहम फसल है। इसकी स्थिति अब खतरनाक है। पिछले पांच सालों (वर्ष 2004 से 2008 के बीच) जिले में कपास का उत्पादन 27225 गांठों (170 किलो की एक गांठ) से घटकर मात्र 3983 गांठों पर आ गया है।

आज पेटलावद के किसान संकटकाल से गुजर रहे हैं। पारम्परिक, कम उर्वरक, कम कीटनाशक और कम पानी वाली फसलों को छोड़कर नकद फसलों को अपनाना अब इन किसानों को बेहद भारी पड़ रहा है। जब बीटी कपास अपनाया तब शुरुआत में तो जाहिर है उत्पादन बढ़ा पर दो साल बाद ही वर्ष 2004–05 में उत्पादन घटना शुरु हो गया। इन बीजों का जर्मीनेशन भी कम्पनियों के दावों के ठीक विपरीत 85 फीसदी से घटकर 27 प्रतिशत रह गया। कपास के नये बीजों ने पशुधन के लिये भी संकट पैदा किया क्योंकि इससे भूसा पैदा नहीं होता है।

बाजार का अपना कोई धरम करम नहीं होता है यह पेटलावद में देखा जा सकता है। जब कपास का दर्द बढ़ा तो दिल्ली और मुम्बई के आढ़तियों ने स्थानीय साहूकारों, दुकानदारों और सरकारी ढांचों के जरिये टमाटर की दूसरी नकद फसल को अपनाने के लिये तैयार कर लिया। दावा था कि एक बीघा के खेत से 40 से 60 हजार रुपये का फायदा होगा। कपास से चोट खाये किसान ने टमाटर की खेती में इलाज खोजा। यहां के खेती चक्र को करीब से देख-समझ रहे किसान लक्ष्मण सिंह मुणिया बताते हैं कि जिस खेत में टमाटर होता है वहां पहली बार तो खूब उत्पादन होता है, परन्तु अगले तीन-चार साल के लिये वह जमीन उत्पादक नहीं रह जाती है। ये नये बीज जमीन-मिट्टी के तमाम पोषण तत्व खींच लेते हैं। इसके लिये किसानों को खूब उर्वरक डालना पड़ता है। कितना उर्वरक वे बताते हैं कि एक एकड़ में कम से कम 6 से 7 क्विंटल रासायनिक उर्वरक डाला जा रहा है। ये रासायनिक बनावटी तौर पर तो जमीन की उर्वरता में बदलाव दिखाते हैं किन्तु आने वाले कल के लिये मिट्टी को बंजर बनाते जा रहे हैं। तीस साल पहले के फसल चक्र की फसलों की तुलना में सबसे पहले ज्यादा सोयाबीन और कपास ने रासायनिक उर्वरक ज्यादा खाना शुरु किया। इसके आगे चलकर वर्ष 2005–06 में यहां पहुंचे टमाटर ने तो रसायनों की भूख की हदें ही तोड़ दी। झाबुआ में 1970 के दशक में एक हेक्टेयर में बीस किलो रसायन डलता था जो वर्ष 2009 की खरीफ की फसल तक बढ़कर 800 किलो तक पहुंच गया है। इसके कारण फसलें असफल हो रही हैं क्योंकि इनसे उत्पादन की लागत खूब बढ़ी।

एक हेक्टेयर में टमाटर के लिये 9700 रुपये केवल रसायनों के लिये खर्च करने पड़ रहे हैं। टमाटर को मक्का या दलहनों की तुलना में 6 गुना ज्यादा पानी की जरूरत पड़ती है जबकि झाबुआ में हर दूसरे साल सूखे के हालात बनने लगे हैं। इस साल यानी वर्ष 2009 में भी यही हालात हैं। सोयाबीन, टमाटर और मिर्ची में खूब पानी

लगने के कारण मक्का और दलहनों के लिये पानी ही नहीं बच रहा है। अब फिर भी टमाटर ही बोया गया। चार सालों में असर दिखने लगा तो किसानों से मिर्ची लगवाना शुरू कर दिया गया। यह भी एक बहुत ऊँची लागत वाली फसल साबित हुई। किसान ने फायदे के लिए इन नकद फसलों को चुना, किन्तु अब वह इनके जाल में फंस गया है। कारण साफ है बहुत बड़ी मात्रा में रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के उपयोग के कारण मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरता लगभग खत्म हो चुकी है। ठिकरिया गांव के मंगल कहते हैं कि पहले जहां हम 25 क्विंटल कपास लेते थे अब वह घटकर 3 क्विंटल पर आ गई है। यह तो लागत का भी एक चौथाई है, फायदा तो बहुत दूर है और अब उन पर 75 हजार रुपये का कर्जा है।

आज भी ये किसान यही फसलें लेने के लिए विवश हैं क्योंकि बीज, खाद और कीटनाशकों के लिए इनकी निर्भरता बाजार पर है। बाजार या कम्पनियाँ अब केवल इन्हीं खास फसलों पर ही उधार देती हैं। उधार इन किसानों की सबसे बुनियादी जरूरत है क्योंकि कर्ज में फंसे ये लोग नकद निवेश करके अपनी मर्जी की खेती करने की स्थिति में नहीं हैं। पारम्परिक फसलों के बीज तो किसान अपने ही खेत से ले लेता था और गोबर से खाद बनाता था पर अब वह बाजार से बीज लेने को बाध्य है। चूंकि पशुधन भी 60 फीसदी कम हो चुका है इसलिये वह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की खाद का उपयोग करने के लिये विवश हो गया है। वर्ष 2008 के विधानसभा चुनावों में भारतीय जनता पार्टी ने मध्यप्रदेश को जैविक राज्य बनाने के वायदे के साथ चुनाव जीता और सत्ता में आ गई।

रायपुरिया गांव के रासायनिक उर्वरक विक्रेता मुकेश चौधरी कहते हैं कि “लोगों के खेत जोत छोटे हैं जिनसे ज्यादा उत्पादन लेने की चाह में किसान ज्यादा रसायन उपयोग में ला रहा है। आज यहां एक एकड़ में 8 क्विंटल उर्वरक डल रहा है। उन्हें लगता है कि ज्यादा उर्वरक डालने से ज्यादा पैदावार होगी। यहां से टमाटर और मिर्ची ले जाने वाले मुम्बई-दिल्ली के खरीददार भी किसानों को बताते हैं कि ज्यादा उर्वरक से टमाटर का छिलका मोटा होगा जिससे वह जल्दी नहीं सड़ेगा और मिर्ची लम्बी होगी।” वह यह भी जोड़ते हैं कि “किसानों के पास अब कोई आर्थिक सुरक्षा नहीं है और 99 फीसदी रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक या बीज उधारी में ही लिये जाते हैं।” मोरझरिया के छोटे किसान रूपचंद्र भूरिया कहते हैं कि “उधारी में कीमत दो गुनी हो जाती है। कर्जे से निकलने की कोशिश कर्जे में और गहरे फंसा देती है।”

स्थानीय पत्रकार हरीश पवार कहते हैं कि “उन्नतबीज और रसायन बेचते समय केवल उत्पादन बढ़ने की जानकारी दी जाती है। उत्पादन किन परिस्थितियों में बढ़ेगा यह नहीं बताया जाता है, जैसे— टमाटर, मिर्ची में पानी खूब लगता है। यहां पानी कम है। तब पूरा निवेश घाटे का सौदा बन जाता है और एक ही बार में दो बीघे के छोटे से खेत का किसान 15 से 20 हजार के कर्जे में आ जाता है, मिट्टी

बर्बाद होती है सो अलग। यहां 1991 में किसान पर औसत कर्ज ढाई हजार रुपये था जो 35 हजार रुपये से ऊपर पहुंच चुका है। कारण साफ है खेती की खूब बढ़ती हुई लागत।”

## कर्ज की जिन्दगी

झाबुआ के पेटलावद इलाके के आदिवासी और गैर-आदिवासी किसान 35 से 38 हजार रुपये के कर्ज के बोझ से दबा हुआ है। रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और उन्नत बीजों की पोल अब खुलने लगी है। जिस कपास को कभी “सफेद सोने” की फसल के रूप में पेश किया गया था उसकी उत्पादकता घटकर एक तिहाई कम हो गई है। मध्यप्रदेश के कृषि विभाग के मुताबिक वर्ष 2005-06 में झाबुआ में एक हेक्टेयर में 442 किलो कपास का औसत उत्पादन होता था जो 2006-07 में घटकर 370 किलो और फिर 2008-09 में और फिर गिरकर 151 किलो प्रति हेक्टेयर पर आ गया है। सोयाबीन के मायने में भी झाबुआ (775 किलो प्रति हेक्टेयर) मध्यप्रदेश के औसत उत्पादन (1143 किलो प्रति हेक्टेयर) से बहुत पिछड़ गया क्योंकि काली मिट्टी में प्राकृतिक उपजाऊपन होने के बाद भी यहां खूब रसायन खेतों में डाले गये।

1999 में छह हजार की जनसंख्या वाले रायपुरिया गांव में महज दो रासायनिक उर्वरकों-कीटनाशकों की दुकानें थी आज दस वर्ष बाद यहां 16 दुकानें हैं। यहां से 7 किलोमीटर दूर पेटलावद ब्लाक मुख्यालय में 25 दुकानें हैं। इन दो जगहों से ही 4.75 करोड़ रुपये के रासायनिक उर्वरक बेचे जाते हैं। रसायनों का यह व्यापार केवल रायपुरिया में नहीं बढ़ा है बल्कि पेटलावद में भी रासायनिक पदार्थों की दुकानों की संख्या 5 से बढ़कर 25 हो गई। केवल एक पेटलावद विकासखण्ड में 75 दुकाने हैं और इस साल खरीफ के मौसम में यहां 24 करोड़ रुपये के उर्वरक, कीटनाशक बीज और स्प्रे की बेचवाली हुई। दूसरी तरफ एक हेक्टेयर के किसान का पूरा परिवार मिलकर कमायेगा अधिकतम 15 हजार रुपये।

लाल्यारुण्डी गांव की साल भर की कुल आय 5.02 लाख रुपये है और गांव के सभी परिवारों पर कुल 16.07 लाख का कर्ज है। काजबी के परिवारों पर कर्ज तो 63.29 लाख का है पर उन सबकी सालाना आय महज 13.93 लाख है। यहां एक परिवार वर्ष भर में 10079 रुपये की आय अर्जित करता है परन्तु उस परिवार पर 38094 रुपये का कर्ज है। 10 गांवों के कर्ज और आय पर जरा गहरी नजर डाली गई तो पता चला कि उनकी कुल सालाना आय तो 1.10 करोड़ रुपये है परन्तु कर्ज 4.18 करोड़ रुपये है यानी आय से चार गुना ज्यादा। सबसे ज्यादा कर्ज रुपये 3.06 करोड़ खेती के लिये लिया गया है। इसमें से बैंकों या समितियों का हिस्सा महज एक तिहाई है बाकि साहूकारों और रासायनिक खाद-बीज विक्रेताओं को चुकाना है। विक्रेताओं, आढ़तियों, दलालों और साहूकारों को पता है कि उनका निवेश सुरक्षित है क्योंकि वे किसानों को कर्ज देकर उनकी फसल सस्ते में खरीद लेते हैं। लक्ष्मण

सिंह के मुताबिक यहां ठेका खेती हो रही है जिसमें बड़े शहरों के व्यापारी अपनी जरूरत के मुताबिक किसानों से टमाटर-मिर्ची की खेती करवा रहे हैं। और कर्ज में फंसा आदिवासी-किसान अब नकद फसलों को ही अंतिम विकल्प मान रहा है। मोरझरिया के बुजुर्ग किसान रमजे बताते हैं कि “35 साल पहले का कर्ज सालाना होता था यानी साल भर में चुक जाता था, अब वह चुकता नहीं क्योंकि फायदे के फेर में खेती घाटे पर घाटा दे रही है। हमने अपनी क्षमता से बड़ा कदम उठा लिया अब यदि कर्ज चुकाने का सोचें भी तो चार साल तक अपनी पूरी कमाई उन्हें सौंप देना पड़ेगी। कर्ज तो तब भी नहीं चुकेगा क्योंकि 36 फीसदी ब्याज तो हर साल और जुड़ता ही जायेगा।”

महंगे बीजों और रसायनों के कारण खेती की लागत खूब बढ़ी है। इस क्षेत्र के 95 फीसदी किसान, जिनमें एक-दो एकड़ की जोत वाले किसान भी शामिल हैं, खेती में ट्रैक्टर और थ्रेशर का उपयोग कर रहे हैं। अब उनके पास बैल और पशुधन नहीं रह गये हैं। नकद फसलों से चारा ही नहीं बचता है और चरनोई की जमीन पूरी खत्म हो चुकी है तो जानवर बचेंगे कैसे चूंकि जानवर नहीं बचे तो जैविक खाद के अवसर भी खत्म हो गये। बुआई-जुताई और ढुलाई का पूरा काम पहले हाथों और पशुधन के जरिये होता था, बिना अतिरिक्त लागत के। अब ट्रैक्टर से होता है। ट्रैक्टर किराये पर चलाने वाला एक क्विंटल मक्का और सोयाबीन की कटाई के लिए 8 किलो शुल्क के रूप में वसूल करता है। फसल की कटाई थ्रेशर से होने लगी है और थ्रेशर का किराया होता है 5 किलो अनाज एक क्विंटल की कटाई पर। कुल उत्पादन का 11 फीसदी तो इन मशीनों के खाते में ही चला जा रहा है। 5 एकड़ की जोत वाले किसानों के लिये आज की स्थिति में खेत से इन बढ़ती हुई लागतों के कारण 3 महीने की न्यूनतम मजदूरी निकाल पाना भी कठिन हो गया है। यूं भी सरकारी नीति में खेती के काम को अकुशल मजदूरी की श्रेणी में रखा जाता है और उनके लिए (खेत मजदूर) दैनिक आय का मानक सबसे नीचे के स्तर पर तय किया हुआ है।

झाबुआ में बड़े-सम्पन्न किसान नहीं हैं। यहां की 86 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासी है और 71 प्रतिशत परिवार गरीबी की रेखा के नीचे हैं। यहां जोतों का औसत आकार 3 एकड़ के आसपास है और जिले की प्रति व्यक्ति सालाना आय केवल और केवल 8541 रुपये है। ऐसी हालत में इतने बड़े पैमाने पर रासायनिकीकरण और बाजारीकरण इनके लिए मौत से कम नहीं है। 1990 के दशक के आखिरी सालों में खेती के कारण कर्जा बढ़ना शुरू हुआ और आदिवासियों-किसानों ने कर्जा चुकाने के लिये नकद फसलों को चुना। फिर ज्यादा उत्पादन के लिए रासायनिक उर्वरकों में उन्हें आशा की किरण दिखाई दी। यहां काम कर रहे सामाजिक कार्यकर्ता नीलेश देसाई मानते हैं कि कर्ज का चक्र सोयाबीन से शुरू हुआ, जो उतना गहरा नहीं था, परन्तु बीटी कॉटन ने तो कर्जों का चक्रव्यूह ही रच दिया जिसमें जाने के रास्ते को किसानों को पता चलते रहे परन्तु निकलने के रास्ते पता नहीं रहे। जिससे निकलने



की वे जितनी कोशिश करते, उसमें उतने ही फंसते जाते हैं। बीटी कॉटन, टमाटर और मिर्ची अपने में बहुत ऊंची लागत वाली फसलें साबित हुई हैं। एक हेक्टेयर में बीज के लिये ही इन्हें ढाई हजार रुपये खर्च करना पड़ते हैं। फिर डीएपी, यूरिया और पोटाश (डेढ़-डेढ़ क्विंटल) और सुपर फास्फेट (दो क्विंटल) प्रति एकड़ रासायनिक खाद चाहिये। जिन बीजों को उन्नत बीज कहकर महंगे में बेचा जाता है, उन पर रोग भी खूब लग रहे हैं, तो 5 से 10 लीटर रासायनिक कीटनाशक हर एकड़ जमीन में उतारा जा रहा है। स्वाभाविक सा सवाल जहन में तैर जाता है कि इन टमाटरों और मिर्ची में खतरनाक रसायनों के अलावा है क्या?

## ऐसे बदला चक्र !

मध्यप्रदेश में सबसे ज्यादा आदिवासी जनसंख्या वाले झाबुआ को 1960 के दशक में दलहन और मोटे अनाज (मक्का, ज्वार, मूंग, उड़द, चवला) के साथ-साथ तिलहन (तिल और मूंगफली) की पट्टी माना जाता था। पारम्परिक तकनीकों से स्थानीय पर्यावरण के मुताबिक ये फसलें समाज की खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करने में केन्द्रीय भूमिका निभाती हैं। इसके अगले दशक में नकद फसल के रूप में कपास ने अपना हिस्सा बढ़ाया। और फिर 1980 में सोयाबीन की खेती का दायरा बढ़ा इस दौरान सरकार ने नीतिगत तरीकों से बाजार की मांग को पूरा करने के लिए किसानों को नकद फसलें पैदा करने के लिये प्रेरित किया। किसानों को बार-बार यह समझाया गया कि खाद्यान्न फसलों से वे अपना जीवन स्तर और रहन-सहन नहीं बदल सकेंगे। नकद फसलों से पैदा होगा पैसा। जिससे उनकी आर्थिक तरक्की होगी। शुरुआत के दशकों (1960-70 में) नकद फसल के रूप में कपास बोई जरूर गई परन्तु तब कपास के देशी बीज (काफी) का उपयोग होता था, जिसे खेत पर बुरक देने से ही काम चल जाता था और उसमें बेहद कम उर्वरक-कीटनाशकों की जरूरत पड़ती थी। बाद में नकद फसलों का बाजार इतना बढ़ा कि झाबुआ में वर्ष 2002-03 में बीटी कपास (जीनांतरित बीज) खेतों तक पहुंच गया। तब बीटी बीज बनाने वाली कम्पनियों ने दावा किया था इन बीजों के उपयोग से खेत में उर्वरकों और कीटनाशकों की कम जरूरत पड़ेगी; पर ऐसा हुआ नहीं। टमाटर के तथाकथित उन्नत बीजों में ब्लाइट नामक संक्रामक रोग आता है। इससे निपटने के लिये खेत को कीटनाशक से तर-बतर कर दिया जाता है। रोग तो तब खत्म हो जाता है पर खेत को आगे के लिये बंजर कर जाता है। अब चूंकि एकल फसल का चलन बढ़ गया है इससे भी रोगों, इल्लियों का आक्रमण ज्यादा घातक होता है। पहले जब एक साथ 6-8 फसलें बोई जाती थीं तब एक रोग एक फसल को ही प्रभावित करती थी और दूसरी बची हुई फसल किसान को कर्जदार होने से बचा लेती थी। अब पूरे का पूरा गांव एक जैसी फसल बोता है जिससे एक बीमारी पूरे गांव की फसल को चौपट कर देती है।

मुनाफा बाजार का पहला और अंतिम लक्ष्य होता है । वह हर हालत में जरूरत में

से फायदा निकाल लेता है। अब तक खुरपी से निंदाई-गुढ़ाई करके किसान अपने खेत की खरपतवार निकालता रहा है पर पेटलावद में चारा-घास को खत्म करने के लिए भी हर्बीसाइड रसायन का उपयोग होने लगा है। आज यहां के 40 फीसदी किसान इस रसायन का उपयोग कर रहे हैं जिसकी कीमत 1600 रुपये लीटर है। जो खेत की उर्वरता को नष्ट करती है और केंचुओं को भी मार देती है। इसका उपयोग प्रतिष्ठा का प्रतीक भी बन गया है। इसे बेचते समय यह नहीं बताया जाता है कि यदि जमीन में सही नमी नहीं होगी तो यह प्रभावी नहीं होगा और यदि थोड़ा जयादा डाल दिया गया तो बीज को जला देगा। इससे आने वाली फसल भी कमजोर होती है।

“सुरक्षा और स्वास्थ्य पर भी अब गहरा असर पड़ने लगा है। पेटलावद में अस्थमा की समस्या बहुत तेज गति से बढ़ी है और ये रासायनिक पदार्थ पानी के स्रोतों को भी जहरीला बनाने लगे हैं” यह कहते हैं हरीश पवार। किसान भी बिना किसी मास्क या सुरक्षा के मोटर पंप में तीन इंच का पाइप लगाकर फसलों को इन उर्वरकों-कीटनाशकों से नहला रहे हैं। कृषि विभाग के उपसंचालक सुनील दुबे इसे नहीं मानते। वे कहते हैं कि “नहीं, अब भी झाबुआ के किसान उड़द जैसी पारम्परिक फसलें ही ले रहे हैं और यहां इतने रसायनों का उपयोग नहीं हो रहा है। ये तो छोटे-छोटे और गरीब किसान हैं। ये कैसे इतना खर्च कर सकते हैं।” कर्ज या उधारी के सवाल पर वे कहते हैं कि हो ही नहीं सकता, इन्हें कौन और किस आधार पर कर्ज देगा? कुल मिलाकर यह तो पता चलता ही है कि या तो खेती के तौर तरीकों को बदलकर फायदा कमाने में जुटी कम्पनियों का नियमन करने की सरकार की कोई तैयारी नहीं है या फिर पेटलावद में पल रहे खतरे की जानकारी होने के बावजूद वह अनजान बनी हुई है या फिर इसमें शामिल भी है।

खाद्यान्न उत्पादन की कीमत पर नकद फसलों से आर्थिक उन्नति का सौदा हमें बेहद महंगा पड़ने वाला है। झाबुआ का अनुभव बताता है कि इससे वंचित होने की कगार पर खड़े समुदायों के सामने आजीविका का संकट तो गहरायेगा ही, साथ में उत्पादन की संभावनायें भी खत्म होती जायेंगी। जमीन और मिट्टी में इतने रासायनिक पदार्थ पहुंचने से जल्दी ही उत्पादन कम होगा और भुखमरी बढ़ेगी। बीमारियों में बढ़ोतरी हो रही है। अस्थमा और एलर्जी के मामले अब खूब आ रहे हैं। पर्यावरण पर तो संकट है ही। रासायनिक पदार्थों का खेती में इतना उपयोग जैव विविधता और पर्यावरण दोनों के लिये संकट के संकेत देता है। कुल मिला कर खेती का बाजारीकरण, औद्योगीकरण और रासायनिकीकरण गरीबी, पर्यावरण और खाद्य सुरक्षा की स्थिति के लिये नये संकट खड़े कर रहे हैं।

## जी एम खाद्यान्न

अब कहा जाने लगा है कि जीनांतरित खाद्यान्न उत्पादन की तकनीकें ही खाद्यान्न असुरक्षा के इस संकट से निजात दिला सकती हैं और दुनिया को भुखमरी का

शिकार होने से बचा सकती हैं। पिछले कुछ सालों में जिस तरह विकसित देशों में पेट्रोलियम उत्पादों की जरूरत में बेतहाशा वृद्धि हुई है उसे पूरा करने के लिए अमेरिका ने अपने खाद्यान्न उत्पादन का उपयोग बायोडीजल बनाने में करना शुरू कर दिया है जिससे अमेरिका में पैदा होने वाला अतिरिक्त खाद्यान्न जरूरतमंद देशों तक न जाकर विलासितापूर्ण वाहनों के पेट्रोल टैंक के जरिए धुआं बनकर उड़ रहा है।

अमेरिका में जीनांतरित खाद्यान्न का उपयोग मानव उपभोग के लिए नहीं करके बायोडीजल के लिए किया जाता है। वे जानते हैं कि इस तरह का खाद्यान्न मानव अस्तित्व के लिए खतरनाक होगा। फिर भी गरीब देशों पर यह मानव के भोजन के रूप में स्वीकार करने का दबाव बनाया जा रहा है। ऐसे में तो बाजार मानव अस्तित्व को ही दांव पर लगा देगा। दरअसल खाद्यान्न का यह संकट प्रकृति द्वारा नहीं बल्कि बाजार द्वारा रचा गया है। अब तो बाजार में बीटी बैंगन के बीज आ रहे हैं। तर्क वही पुराना है कि बैंगन या आलू की फसल को कीटों से बचाने के लिये ऊपर से कीटनाशकों का छिड़काव करना पड़ता है। इससे बचने के लिये कम्पनी ने बीज में ही कुछ जीवों के जीन कीटनाशक (यानी जहर) प्रवेश करा दिये हैं। बीटी बैंगन हम सभी को गिनी पिग बना सकती है। अगर इन बीजों के ओपन एअर ट्रायल की अनुमति दी गई और संक्रमण फैल गया तो बीटी और गैर बीटी बैंगन की पहचान करना मुश्किल हो जाएगा। तब लोगों के सामने भी कोई विकल्प मौजूद नहीं रहेगा। बीटी बैंगन को सुरक्षित भी नहीं पाया गया है। नियामक अधिकारियों को मायको कंपनी द्वारा अब तक इन बीजों के किए गए परीक्षण का सिर्फ सारांश पेश किया है। बीटी कॉटन जैसी गैर खाद्य फसलों के लिए मध्यप्रदेश के निमाड़ क्षेत्र में किए गए अध्ययन में पाया गया है कि इसे उगाने वाले किसान और स्पिनिंग मिल के मजदूरों को इसके संपर्क में आने पर एलर्जी की शिकायत होने लगी है। बीटी बैंगन की पोषकता पर कोई स्वतंत्र वैज्ञानिक शोध भी नहीं हुआ है। जैव तकनीक को सबसे पहले और सबसे ज्यादा अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने ही बढ़ावा दिया और अमेरिकी सरकार ने अपनी नीतियां भी उन्हें मदद करने वाली ही वैश्विक मंचों पर भी जैव तकनीक का खुल कर पक्ष लिया। सन् 2002 में हुए विश्व खाद्य सम्मेलन में गरीबी-भुखमरी पर चर्चा के दौरान विकसित देशों ने कहा कि भूमण्डलीकरण से ही भुखमरी मिट सकती है और बायोटेक्नालॉजी के जरिये ही इस संकट को हल किया जा सकता है। अमेरिका के कृषि सचिव ने तो यहां तक कह दिया कि सम्मेलन के घोषणा पत्र में सभी देश जीएम फसलों को बढ़ावा देने पर सहमति जाहिर करें और अपनी नीतियां इसी तरह बनायें। इसे स्वीकार न करने की स्थिति में अमेरिका विश्व खाद्य सम्मेलन के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेगा। जिस कीट से फसल को बचाने के लिये बैक्टिरिया बीजों में प्रवेश कराया जा रहा है क्या वह उन लोगों पर असर नहीं करेगा जो जैव परिवर्धित बीजों से उपजाये गये फल या सब्जी खायेंगे। जैव परिवर्धित बीजों (बीटी बीज) के कितने खतरनाक प्रभाव के दो उदाहरण हमारे

सामने आ चुके हैं। बीटी कपास की खेती करने वाले 100000 किसान घाटे में डूब कर कर्ज के जाल में फंसे और उन्हें आत्महत्या करना पड़ी। इसी फसल के पेड़ और कपास के फल खाकर 1600 भेड़ें मर गईं। जब अखाद्य फसलों का यह प्रभाव है तो बीटी खाद्य फसलों से भूख मिटेगी या जीवन मिटेगा इस नई तकनीकी परिस्थितियों में जीएम फसलों में उपयोग होने वाले बीजों का पुनर् उत्पादन नहीं किया जा सकेगा। हर बार किसानों को बाजार से ही बीजों की खरीदी करना होगी। कुछ चुनिंदा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बीज ही उपलब्ध होंगे जिनकी कीमत अभी भी सामान्य बीजों के मुकाबले 10 से 200 गुना ज्यादा है। स्वाभाविक है कि हर साल बीजों का बाजार ही खरबों रुपये का होने वाला है पर इन्सानों का पेट खाली का खाली ही रहने वाला है।

बैंगन के बीजों में जिस क्राय1एसी जीन को प्रवेश कराया गया है, उसके प्रभावों का प्रयोग चूहों पर किया गया। उससे पता चला कि यह प्रतिरोधक क्षमता को कमजोर करता है और आंतों में चिपक जाता है। पूर्व के क्राय1एसी जीन के परीक्षण यह सिद्ध करते हैं कि उससे जीवों में जबरदस्त एलर्जी होती है और यदि यह जीन लगातार मानव शरीर में प्रवेश करेगा तो वह कभी भी खतरनाक बीमारियों से नहीं उबर पायेगा। जीएम खाद्य पदार्थों पर हुआ कोई भी अध्ययन यह सिद्ध नहीं करता है कि ऐसे बीज या उत्पादन जानलेवा खतरनाक रसायनों और संकटों से मुक्त हैं। यही कारण है कि किसी भी विकसित देश ने अपने यहां जीएम खाद्यान्न को प्रोत्साहित नहीं किया है। बीटी बैंगन के बीजों में एनपीटी-2 जीन का भी प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह जीन कैनामायसिन प्रतिरोध के रूप में जाना जाता है। इसके कारण मानव शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और कोशिकायें खत्म हो जाती हैं। यदि व्यक्ति बीटी बैंगन का उपयोग करता है तो उस पर एंटीबायोटिक दवाओं का असर भी खत्म हो पायेगा। यानी इन्सान भूख से भी मरेगा और बीमारी से भी।

यह संकट केवल बैंगन तक सीमित नहीं है। इसके बाद आलू का नंबर आने वाला है। आलू के बीज में मकड़ी के जीन प्रवेश कराये गये हैं। तर्क यह दिया गया कि इस आलू में प्रोटीन ज्यादा है और यह प्रोटीन गरीबों के लिये ज्यादा फायदेमंद है। दीगर बात है हिमाचल प्रदेश के आलू में भी इससे भी ज्यादा प्रोटीन है। चावल में बिच्छू के जीन शामिल किये गये हैं। इसी तरह अरहर, सरसों, टमाटर, मूंगफली, मक्का जैसी 10 खाद्यान्न फसलों सहित 56 बीजों के लिये अनुमति की मांग की गई है। चूंकि यह बीज जैव परिवर्धित बीज हैं इसलिये इन पर केवल एक विशेष प्रकार के कीटनाशकों का ही असर होता है। यह विशेष कीटनाशक भी वही खास कम्पनी बनाती है जैव परिवर्धित बीज बनाती है। इसे खरीदना भी किसान की मजबूरी हो जाती है।

# खाली हो रही हैं थाली ?\*

« सचिन कुमार जैन/चांदनी त्यागी

## मुख्य बिंदु

- राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संस्थान के आंकड़ों के मुताबिक प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग (किलोग्राम) के मामले में मध्यप्रदेश (9.73) का स्थान केरल (9.37) तथा पंजाब (9.63) की तुलना में नीचे से तीसरा है।
- ग्रामीण भारत में खासकर मध्यप्रदेश, उड़ीसा व छत्तीसगढ़ में प्रति व्यक्ति मासिक खाद्य उपभोग 260 रुपए से 275 रुपए के बीच है। वहीं पंजाब व केरल में यह 500 रुपए से ज्यादा है। अन्य राज्य इन दो स्तरों के बीच में आते हैं। वहीं शहरी भारत में देश के 17 प्रमुख राज्यों में प्रति व्यक्ति मासिक खाद्य उपभोग खर्च 400 रुपए से 640 रुपयों के बीच हैं।
- मध्यप्रदेश में प्रति व्यक्ति मासिक उपभोक्ता खर्च वर्ष 2006-07 के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 515 रुपए तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 1002 रुपए था। वहीं राष्ट्रीय स्तर पर प्रति व्यक्ति मासिक उपभोक्ता खर्च ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 695 रुपए तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 1312 रुपए है।
- कुल मिलाकर ग्रामीण भारत में खाद्य उपभोग का स्तर गिरा है। वर्ष 2005-06 में परिवार के एक सदस्य द्वारा हर माह 11.920 किलोग्राम अनाज उपभोग किया जाता था, इसके लिए परिवार को हर माह 106.30 रुपए खर्च करने होते थे। वर्ष 2006-07 में प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा घटकर 11.685 किलोग्राम (1.97 फीसदी कम) हो गई। महंगाई के कारण इसे खरीदने के लिए होने वाला खर्च बढ़कर 114.80 रुपए तक पहुंच गया।
- मध्यप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ष 2005-06 में एक व्यक्ति महीने भर में 11.48 किलोग्राम अनाज का उपभोग करता था। इसके लिए उसे 86.46 रुपए खर्च करने होते थे। लेकिन खाद्य उपभोग की मात्रा 15.34 फीसदी से गिरकर अब 9.718 किलोग्राम प्रति महीने रह गई है। इसे खरीदने के लिए होने वाला खर्च कमोबेश उतना ही (87.27 रुपए) है।

\*इस अध्याय के अन्तर्गत भारत में घरेलू उपभोक्ता खर्च के आंकड़ों, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (63वां चक्र) 2006-07 की रिपोर्ट का विशेष तौर पर मध्यप्रदेश पर केंद्रित विश्लेषण किया गया है।

## 1. पृष्ठभूमि

### 1.1 भूख और अभाव

भुखमरी एक ऐसी स्थिति है जिसमें समाज के एक तबके के लोगों के पास पेट भरने के लिए भोजन नहीं होता। भूख कोई नई आपदा नहीं है। बार-बार पड़ने वाले अकाल और महामारी की तर्ज पर छा जाने वाला कुपोषण लगातार बना हुआ है। दुनिया के ज्यादातर हिस्सों में जिंदगी की मियाद छोटी और बेहद कठिन बन गई है। भोजन व अन्य आवश्यक वस्तुओं का अभाव अक्सर मानव जीवन छोटा और बेहद कठिन बना देता है। आज की यह भूख कुदरती मार का नतीजा नहीं, कुछ लोगों के लगभग गैर जरूरी भूख का नतीजा है। बीती कुछ सदियों में दुनिया भर में उत्पादन क्षमता में हुई जबर्दस्त बढ़ोतरी हुई है। इतनी बढ़ोतरी हुई है कि दुनिया के हर इन्सान को भोजन की गारंटी दी जा सकती है। आज का मसला भूख हमें नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक तौर पर वास्तव में शर्मसार करने वाला है।

अर्जुन सेनगुप्ता की रिपोर्ट बताती है कि सुपर पॉवर बनने जा रहे इस देश में न केवल गरीबी कायम है बल्कि असमानता की खाई भी तेजी से बढ़ रही है। इसके मुताबिक भारत के 83 करोड़ 60 लाख लोग अब भी प्रति दिन 20 रुपए से भी कम कमाते और खर्च करते हैं। यह रिपोर्ट सरकार के वर्ष 1993-94 व 2004-05 के आंकड़ों पर आधारित है।

इस रिपोर्ट के आंकड़ों के सहारे हम इस दस्तावेज के आगामी हिस्सों में भारत व खासकर मध्यप्रदेश में घरेलू उपभोक्ता खर्च तथा खाद्य उपभोग की प्रवृत्ति पर नजर डालने की कोशिश करेंगे। हम इसमें राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संस्थान (एनएसएसओ) के 63वें चक्र में वर्ष 2006-07 के दौरान कराए गए घरेलू उपभोक्ता खर्च की रिपोर्ट को आधार बनाएंगे, जिसमें विकास की पड़ताल करने के लिए बड़ी विकास योजनाओं की जमीनी स्तर पर अमल की हकीकत का सच जानने की कोशिश की गई है।

### 1.2 भारत में गरीबी का आकलन

1970 से भारत में गरीबी के अध्ययन के लिए 'गरीबी रेखा' से नीचे जीवन-यापन करने वालों के खर्च के स्तर को आधार माना गया है। इसके तहत ऐसा माना गया है कि सेवाओं तथा सामग्रियों पर प्रति व्यक्ति मासिक उपभोक्ता खर्च ग्रामीण क्षेत्रों में 2400 किलो कैलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में 2100 किलो कैलोरी होना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति कैलोरी ग्रहण का पैमाना ज्यादा रखा गया क्योंकि वहां लोग शहरी क्षेत्रों के मुकाबले कठोर शारीरिक श्रम करते हैं। 1950 से 1990 तक ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति कैलोरी ग्रहण का वास्तविक आंकड़ा शहरी क्षेत्रों की तुलना में ज्यादा था। लेकिन 1990 के बाद स्थिति बदल गई और ग्रामीण क्षेत्रों में कैलोरी

ग्रहण का आंकड़ा शहरी क्षेत्रों की तुलना में कम हो गया। वर्ष 1999–2000 में तो यह स्थिति एकदम उलट हो गई।

ऐसे तमाम लोग जिनका खर्च गरीबी रेखा के पैमाने से नीचे हो गरीब की श्रेणी में आते हैं। दांडेकर व रथ (1971) ने जहां गरीबी की पहचान के लिए पोषण का एकसार पैमाना 2250 कैलोरी प्रति व्यक्ति अपनाया था, वहीं योजना आयोग द्वारा 1979 में न्यूनतम जरूरतों व प्रभावी उपभोग मांगों के अध्ययन के लिए बनी टास्क फोर्स में एकसार पैमाने की बजाय ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के लिए भिन्न-भिन्न पैमाना अपनाया गया। 1982 की संभावित जनसंख्या संबंधी आंकड़ों को ध्यान में रखते हुए कुल जनसंख्या को उम्र, लिंग व कार्य के मुताबिक 16 श्रेणियों में विभाजित किया गया था। इसके तहत एक साल के कम उम्र के बच्चों के लिए 300 कैलोरी ग्रहण के साथ कठिन श्रम करने वाले लोगों के लिए 3600 कैलोरी उपभोग का दायरा रखा गया था। इसके तहत औसत तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए प्रति व्यक्ति 2435 कैलारी प्रति दिन तथा शहरी क्षेत्र के लिए 2095 कैलोरी प्रतिदिन का आंकड़ा रखा गया था। यह बाद में ग्रामीण क्षेत्र के लिए 2400 कैलोरी तथा शहरी क्षेत्र के लिए 2100 कैलोरी कर दिया गया। पोषण का यह पैमाना भारत में गरीबी के अध्ययन के लिए मानक के तौर पर स्वीकार कर लिया गया। यह गरीबी की न्यूनतम व्याख्या है। क्योंकि गरीबी के लिए गैर खाद्य सामग्रियों मसलन खाना पकाने के लिए तेल या बिजली, कपड़े, घर, यातायात, स्वास्थ्य सुविधा या शिक्षा जैसी चीजों को इसमें शामिल नहीं किया गया था। इसके चलते ऐसे घर जो केवल पोषण पैमाने पर गरीबी रेखा से ऊपर मान लिए जाते हैं, अक्सर उनकी पहुंच जरूरी गैर खाद्य सामग्रियों तथा सेवाओं तक नहीं हो पाती।

गरीबी के अनुमानित आंकड़ों के लिए राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण चक्र की ओर से हर पांच साल में उपभोक्ता खर्च के आधार पर नमूना सर्वेक्षण किया जाता है। एनएसएसओ रिपोर्ट में प्रति माह प्रति व्यक्ति उपभोक्ता खर्च तथा प्रति व्यक्ति प्रति दिन कैलोरी उपभोग सरीखे आंकड़ों की जानकारी दी जाती है। एनएसएसओ चक्र की रिपोर्ट में नमूना घरों द्वारा ऐसे खाद्य पदार्थ शामिल किए जाते हैं जिन्हें वास्तव में बाजार से खरीदा गया हो। इनका बाजार भाव के मुताबिक मूल्य आंका जाता है और गैर खाद्य पदार्थों के व्यय में जोड़कर प्रति व्यक्ति मासिक खर्च निकाला जाता है।

अगर हम वर्ष 2004–05 के अनुमानित गरीबी के योजना आयोग के आंकड़ों को देखें तो हमें पता चलता है कि भारत में गरीबी घट रही है। एनएसएसओ के 61 चक्र के यूआरपी (एक तय अवधि)—उपभोक्ता वितरण आंकड़ों के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी का प्रतिशत 28.3 है वहीं शहरी क्षेत्रों में यह 25.7 फीसदी है। जबकि राष्ट्रीय स्तर पर इसका औसत 27.5 फीसदी है। गरीबी रेखा का निर्धारण राष्ट्रीय स्तर पर वर्गाधारित प्रति व्यक्ति खर्च (यह यूआरपी यानी 30 दिन की अवधि में बटोरे गए

उपभोग आंकड़ों पर आधारित होता है) तथा राष्ट्रीय स्तर के गरीबी अनुपात के आधार पर किया जाता है।

योजना आयोग के मुताबिक मध्यप्रदेश में अगर कोई परिवार ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति प्रति माह 327.28 रुपए खर्च करे तो उसे गरीब माना जाएगा। वहीं शहरी क्षेत्र में यह आंकड़ा 570.15 रुपए प्रति माह का माना गया है। अगर इसे दूसरे शब्दों में कहें तो इसका सीधा मतलब यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्र में ग्यारह रुपए तथा शहरी क्षेत्र में 19 रुपए रोजाना खर्च करने वाले व्यक्ति को गरीबी रेखा से ऊपर मान लिया जाएगा और वह गरीबी उन्मूलन योजनाओं के लाभ से वंचित कर दिया जाएगा। अगर हम राष्ट्रीय तौर पर देखें तो पाते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में 356.30 रुपए (12 रुपये प्रतिदिन) तथा शहरी क्षेत्रों में 538.60 रुपए (18 रुपये प्रतिदिन) प्रति व्यक्ति प्रति माह खर्च की सीमा गरीबी रेखा का निर्धारण करती है।

### डॉ. एन.सी. सक्सेना समिति और गरीबी की रेखा की बहस (वर्ष 2008-09 की स्थिति में)

भारत में गरीबी की परिभाषा, पहचान के सूचक और गरीबी के आंकड़े हमेशा से विवाद में रहे हैं। इन्हें कभी भी मान्य नहीं किया गया। कारण साफ है कि कभी भी (पिछले 20 वर्षों में) सरकार की मंशा गरीबी की सही और ईमानदार पहचान करने की नहीं रही। आंकड़े में हेर-फेर करके गरीबी में कमी के दावे को सिद्ध करने की कोशिश की जाती रही। इस प्रक्रिया में प्रभावशाली पूंजीवाद और उदारीकरण समर्थ अर्थशास्त्रियों की बेहद अहम भूमिका रही। सबसे दुखद पहलू यह है कि भारत जैसे देश में गरीबी को केवल आर्थिक मापदण्ड पर मापा जाता है। जिस देश में जाति और लिंगभेद मूल में हो, जहां समाज प्रकृति आधारित जीवन शैली की वकालत करता हो तो उसे जंगल-जमीन से बेदखल किया जा रहा हो; वहां 12 रुपये और 19 रुपये के रोजाना खर्च को गरीबी की रेखा मान लिया गया। सरकार की इस सोच को बड़ी चुनौती मिली जिसके बाद केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय ने अगस्त 2008 में डॉ. एन.सी. सक्सेना के नेतृत्व में विशेषज्ञ समिति का गठन किया ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब परिवारों की गणना के लिये ज्यादा सही और मुफीद तरीका अपनाया जा सके।

भारत में सन् 1973-74 में कैलोरी उपभोग को गरीबी का आधार माना गया था। तकनीकी विशेषज्ञों की मानते हुये ग्रामीण क्षेत्रों में 2400 कैलोरी और शहरी क्षेत्रों में 2100 कैलोरी को न्यूनतम जरूरत माना गया। परन्तु गरीबी की रेखा में लोगों की संख्या न बढ़ने पाये इसके लिये 1977-78 में 2170, 1983 में 2060, 1993-94 में 1980 और वर्ष 2004-05 में 1820 कैलोरी को गरीबी की रेखा का आधार माना गया यानी थाली का आकार छोटा करके गरीबी कम होने का दावा सिद्ध किया गया। इस विशेषज्ञ समिति ने कहा कि यदि कैलोरी के न्यूनतम मापदण्ड को ईमानदारी से



स्वीकार किया जाये तो ग्रामीण इलाकों में प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह खर्च की सीमा 700 रुपये और शहरी इलाकों में 1000 रुपये (यानी मौजूदा मापदण्ड से दोगुना) करना होगी। यदि ऐसा किया जाता है तो 72 प्रतिशत से ज्यादा जनसंख्या गरीब मानी जानी चाहिये। समिति ने यह भी कहा कि देश की 50 प्रतिशत आबादी के कैलोरी उपभोग की दर 1987 से लगातार गिरती जा रही है; यह बड़ी चिंता का विषय है। सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों में एक बड़ा लक्ष्य 1990 से 2015 के बीच भूख व गरीबी को मिटाने का भी है। अगर भारत में कैलोरी उपभोग को गरीबी का केन्द्रीय आधार माना जाये तो हमें 1990 की तुलना में कैलोरी अभावग्रस्त लोगों की संख्या 62.2 प्रतिशत से घटाकर वर्ष 2015 में 31.1 प्रतिशत तक लाना होगी परन्तु इसके विपरीत कैलोरी मानकों के नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों की संख्या काफी तेजी से बढ़ी है। डीटन और ज्यांद्रेज (2008) के मुताबिक वर्ष 2004-05 में (जब राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण संगठन ने 61वें चक्र का सर्वे किया) गांवों में 79.8 प्रतिशत लोगों को 2400 कैलोरी से कम और शहरों में 63.9 प्रतिशत लोगों को 2100 कैलोरी से कम का भोजन मिल रहा है। भारत के स्तर पर 75.8 प्रतिशत लोग कैलोरी की जरूरत को पूरा नहीं कर पा रहे हैं।

कुपोषण, खाद्यान्न उपभोग, महिलाओं एवं बच्चों में खून की कमी जैसे विषयों पर ठोस तर्क देते हुये इस कमेटी ने ठोस अनुशंसा की कि भारत में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की संख्या का पुनर्निर्धारण करते हुये 50 प्रतिशत लोग गरीब माने जायें। और यदि भूख को आधार माना जाये तो लगभग 80 फीसदी लोग इस रेखा के नीचे होना चाहिये। जहां एक ओर वर्ष 2004-05 के एनएसएसओ सर्वेक्षण के बाद सरकार कह रही थी कि देश में 28.3 प्रतिशत लोग ही गरीब हैं। उस पर इस समिति ने सवालिया निशान लगाते हुये कहा कि देश के 50 फीसदी लोग संकट और अभाव के साथ जीवन जी रहे हैं। इस समिति के मुताबिक मध्यप्रदेश में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की संख्या 37.67 प्रतिशत नहीं बल्कि 66.5 प्रतिशत है, बिहार में 42.53 प्रतिशत नहीं बल्कि 75.19 प्रतिशत है। झारखण्ड में 46.46 प्रतिशत से बढ़कर गरीबी 82.08 प्रतिशत, उड़ीसा 84.79 प्रतिशत और उत्तराखण्ड में 70.44 प्रतिशत, मानी गई। समिति के मुताबिक छत्तीसगढ़ में 73.16 प्रतिशत, महाराष्ट्र में 53.14 प्रतिशत, आंध्रप्रदेश में 19.13 प्रतिशत, राजस्थान में 33.14 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल में 51.01 प्रतिशत, और जम्मू कश्मीर में 7.97 प्रतिशत, लोग गरीबी की रेखा के नीचे माने जाने चाहिये, ऐसा इस समिति का कहना है। कुछ भी हो लेकिन आंकड़ों की बाजीगरी और जमीनी सच के बीच जो धुंध थी अब वह छंटने लगी है। गरीब परिवारों की पहचान के बारे में इस समिति ने कहा कि इस सूची में नाम शामिल करने के लिये सर्वे करने के बजाये, यह सर्वे होना चाहिये कि किसे इस सूची से बाहर किया जाये। इस आधार पर समिति ने कुछ आधार तय किए हैं जिन्हें पूरा करने वाले किसी भी परिवार का सर्वेक्षण बीपीएल सूची के लिए नहीं किया जाएगा :

- अ) ऐसे परिवार जिनके पास जिले की औसत कृषि भूमि (अगर राज्य की इच्छा हो तो ब्लॉक स्तर पर भी यह औसत निकाला जा सकता है) की तुलना में दुगनी कृषि भूमि है (अनुसूचित जनजातियों पर यह बिंदु मान्य नहीं है क्योंकि उनके पास जमीन का सर्वथा अभाव होता है। यह आंशिक या पूर्ण तौर पर सिंचित भूमि हो सकती है। (पूर्णतः असिंचित होने पर तीन गुना तक की छूट)।
- ब) परिवार जिनके पास तीन या चार पहिया मोटर चलित वाहन हैं, मसलन जीप, एसयूवी आदि।
- स) परिवार जिनके पास कम से कम एक यंत्रचालित उपकरण हो, मसलन, ट्रैक्टर, पावर ट्रिलर, थ्रेशर, हारवेस्टर आदि।
- द) परिवार जिनके सदस्यों में कम से कम एक का वेतन 10,000 रुपये हो। वह निजी, गैर सरकारी अथवा सरकारी प्रतिष्ठान में नियमित तौर पर पेंशन या समकक्ष अन्य सुविधाओं का लाभकर्ता भी हो सकता है।
- ई) आयकर दाता।

## 2. भारत में घरेलू उपभोक्ता खर्च, वर्ष 2006-07 (एनएसएसओ 63वां चक्र)

वर्ष 2006-07 में एनएसएसओ की ओर से 63वें चक्र के दौरान देश के 33146 ग्रामीण परिवारों तथा 30583 शहरी परिवारों का सर्वेक्षण कर घरेलू उपभोक्ता खर्च के आंकड़े जुटाए गए। इस सर्वेक्षण के मुख्य बिंदु तथा खाद्य उपभोग स्वरूप के नतीजे आगे दिए गए हैं।

### 2.1 वर्ष 2006-07 में उपभोग का स्तर

- सर्वेक्षण के मुताबिक वर्ष 2006-07 में देश की आधी (50.3 फीसदी) ग्रामीण आबादी का मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च 2006-07 की कीमतों के आधार पर 580 रुपये से भी कम था।
- शहरी क्षेत्रों में जहां खर्च का स्तर थोड़ा ज्यादा होता है, 17.4 प्रतिशत आबादी ऐसी थी जिसका प्रति माह प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च 580 रुपए से कम था। वहीं करीब 50 प्रतिशत आबादी का मासिक प्रति व्यक्ति खर्च 990 रुपए से भी कम था।
- वर्ष 2006-07 में देश में औसत मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च ग्रामीण क्षेत्रों में 695 रुपए था, वहीं शहरी क्षेत्रों में यह 1312 रुपए था (2006-07 की कीमतों के आधार पर)। इससे पता चलता है कि औसतन ग्रामीण क्षेत्रों में एक व्यक्ति रोजाना 23 रुपए खर्च करता है वहीं शहरी क्षेत्रों में यह 44 रुपए प्रति दिन होता है। इसमें भोजन के अलावा, शिक्षा, स्वास्थ्य या अन्य किसी

भी तरह के खर्च शामिल नहीं हैं। हालांकि इससे पहले के वर्ष 2005-06 में (एनएसएसओ 62वां चक्र) में यह औसत देश के ग्रामीण क्षेत्र में 625 रुपए तथा शहरी क्षेत्रों में 1171 रुपए (2005-06 की कीमतों के आधार पर) था। जाहिर है कि वर्ष 2005-06 की तुलना में वर्ष 2006-07 में औसत मासिक उपभोक्ता खर्च ग्रामीण क्षेत्रों में 11.2 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्र में 12 प्रतिशत बढ़ गया था।

## 2.2 वर्ष 2005-06 में उपभोग का विस्तृत पैमाना

- वर्ष 2006-07 में औसत भारतीय ग्रामीण द्वारा खर्च किए गए हर एक रुपए में से 52 पैसे भोजन पर खर्च किए गए। इसमें से 17 पैसे अनाज व उसके विकल्पों पर, 8 पैसे दूध तथा दूध के उत्पादों पर, 6 पैसे सब्जियों पर 4 पैसे शक्कर, नमक या मसालों पर तथा 4 पैसे पेय पदार्थों, पके-पकाए या डिब्बाबंद खाने या अन्य खाद्य पदार्थों पर खर्च किए गए।
- वर्ष 2006-07 में औसत भारतीय शहरी द्वारा उपभोग के लिए खर्च किए गए हर एक रुपए में से 39 पैसे भोजन पर खर्च किए गए। इसमें से 9 पैसे अनाज या उसके विकल्प पर, 7 पैसे दूध या उसके उत्पादों पर, 6 पैसे पेय पदार्थों, पके-पकाए या डिब्बाबंद खाने या अन्य खाद्य पदार्थों तथा 4 पैसे सब्जियों पर खर्च किए गए।

इस विश्लेषण से पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में लोग शहर की तुलना में भोजन पर 33 प्रतिशत ज्यादा खर्च करते हैं। इसका कारण संभवतः फसलों का बदलाव भी हो सकता है। अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में अनाज या सब्जियों की बजाय नगद फसलों पर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। साथ ही तेजी से बढ़ती महंगाई, फसलों की हानि, सरकार द्वारा सार्वजनिक वितरण प्रणाली या अन्य योजनाओं के जरिए खाद्य सुरक्षा योजनाओं की असफलता जैसे कई कारण इसके लिए जिम्मेदार माने जा सकते हैं।

- अगर हम ईंधन व बिजली के लिए खर्च की तुलना करें तो ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में ज्यादा अंतर नहीं पाएंगे। ग्रामीण क्षेत्रों में जहां यह 10 प्रतिशत है वहीं शहरी क्षेत्रों में 9 प्रतिशत। इसी तरह कपड़े, बिस्तर व जूते-चप्पलों के खर्च में भी ग्रामीण क्षेत्रों के 7 प्रतिशत की तुलना में शहरी क्षेत्र के लोग 6 प्रतिशत खर्च करते हैं।
- अनाज के लिए किए जाने वाले खर्च के मामले में ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्र में साफ तौर पर अंतर देखा जा सकता है। अनाज के मामले में ग्रामीण क्षेत्रों में यह 17 फीसदी है तो शहरी क्षेत्रों में 9 फीसदी। वहीं किराए के मामले में ग्रामीण क्षेत्रों में यह महज 0.5 फीसदी है जबकि शहरी क्षेत्रों में यह 5 फीसदी हो जाता है। इसी तरह शिक्षा में ग्रामीण 3 प्रतिशत, शहरी 7 प्रतिशत, यातायात, टेलीफोन सरीखी उपभोक्ता सेवाओं के मामले में ग्रामीण क्षेत्रों में

जहां 8 फीसदी खर्च किया जाता है वहीं शहरी क्षेत्रों में इन पर 14 फीसदी तक खर्च हो जाता है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में अंतर है। ग्रामीण क्षेत्र में जहां स्वास्थ्य पर 8 फीसदी खर्च होता है वहीं शहरी क्षेत्र में यह खर्च महज 6 फीसदी ही रह जाता है। जाहिर है कि शहरी क्षेत्रों में लोग जहां किराए, शिक्षा व अन्य सार्वजनिक सुविधाओं पर ज्यादा खर्च करते हैं वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में अनाज पर खर्च काफी ज्यादा है।

- ग्रामीण भारत में प्रति व्यक्ति मासिक खाद्य उपभोग के लिए औसत खर्च मध्यप्रदेश, उड़ीसा व छत्तीसगढ़ में 260 रुपए से 275 रुपए के बीच में है। वहीं पंजाब और केरल में यह 500 रुपयों से ज्यादा है। देश के अन्य तमाम राज्य इन दोनों के बीच आते हैं। शहरी भारत में देश के 17 बड़े शहरों में प्रति व्यक्ति मासिक खाद्य उपभोग के लिए औसत खर्च 400 रुपयों से 640 रुपयों के बीच है।

### 2.3 वर्ष 2006–07 में अनाज उपभोग

- वर्ष 2006–07 में प्रति व्यक्ति प्रति माह औसत अनाज उपभोग की मात्रा ग्रामीण क्षेत्रों में 11.7 किलोग्राम तथा शहरी क्षेत्रों में 9.6 किलोग्राम थी।
- ग्रामीण भारत में चावल व गेहूं की तुलना में उपभोग किए जाने वाले अन्य अनाजों का प्रतिशत 6 था। जबकि यह गुजरात (41 प्रतिशत), कर्नाटक (37 प्रतिशत), महाराष्ट्र (33 प्रतिशत) तथा मध्यप्रदेश में 20 प्रतिशत था। इसी तरह शहरी क्षेत्रों में चावल व गेहूं की तुलना में अन्य अनाज का उपभोग 3 प्रतिशत या उससे कम था। केवल चार प्रमुख राज्यों, कर्नाटक (24 प्रतिशत), महाराष्ट्र तथा गुजरात (10–11 प्रतिशत) तथा राजस्थान में यह 7 प्रतिशत था।
- अगर राज्यों के स्तर पर देखें तो ग्रामीण भारत में अनाज पर होने वाला खर्च पंजाब में 8 प्रतिशत, हरियाणा व केरल 9 प्रतिशत है, जबकि पश्चिम बंगाल, झारखंड, छत्तीसगढ़ व केरल में यह 23–24 प्रतिशत तथा उड़ीसा में 25 प्रतिशत तथा बिहार में 26 प्रतिशत है। शहरी क्षेत्र में पंजाब में यह 6 प्रतिशत से कम तथा गुजरात, हरियाणा, केरल व महाराष्ट्र व 7 प्रतिशत तथा बिहार में 18 प्रतिशत है।

### 3. म.प्र. में घरेलू खर्च

ताजा आर्थिक सर्वेक्षण के मुताबिक मध्यप्रदेश में गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या (2004–05) 38.3 प्रतिशत थी। इसी वर्ष यानी 2004–05 में मासिक प्रति व्यक्ति उपभोक्ता खर्च ग्रामीण क्षेत्रों में 439.06 रुपए तथा शहरी क्षेत्रों में 903.68 रुपए था। योजना आयोग के ताजा अनुमानों के मुताबिक वर्ष 2004–05 में देश की 27.5 फीसदी आबादी गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही थी। इस तथ्य का आधार एनएसएसओ 61 चक्र के सर्वेक्षण का नतीजा था। इसमें ग्रामीण क्षेत्रों के लिए

प्रति माह 356.35 रुपए तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 538.60 रुपए प्रति माह खर्च की सीमा रखी गई थी। यह केंद्र सरकार की ओर से मानी जा रही गरीबों की पहचान का सबसे ताजा पैमाना था। इसके तहत मध्यप्रदेश में गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही आबादी की संख्या राष्ट्रीय औसत से बहुत ज्यादा थी।

वर्ष 2004-05 से बाद गरीबी रेखा की पहचान के लिए किसी नए अनुमान के अभाव में हमारे विश्लेषण का आधार एनएसएसओ के 2006-07 में किए गए 63वें चक्र में दिए औसत प्रति व्यक्ति प्रति माह का खर्च ही है। यहां यह बताना महत्वपूर्ण होगा कि गरीबी का अनुमान लगाने के लिए ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में कैलोरी उपभोग को मापा जाता है। इसके लिए खर्च की जाने वाली राशि ही (जिसे आर्थिक भाषा में मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च कहते हैं) गरीबी रेखा का निर्धारण करती है।

### 3.1 मप्र में उपभोग खर्च संबंधी कुछ तथ्य

मध्यप्रदेश के लिए वर्ष 2006-07 में प्रति व्यक्ति औसत मासिक उपभोग खर्च ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 515 रुपए तथा शहरी क्षेत्र के लिए 1002 रुपए है। वहीं राष्ट्रीय स्तर पर यह आंकड़ा ग्रामीण क्षेत्र के लिए 695 रुपए तथा शहरी क्षेत्र के लिए 1312 रुपए रखा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि इसके तहत आने वाला एक ग्रामीण व्यक्ति प्रति दिन 17 रुपए तथा शहरी व्यक्ति 43 रुपए प्रति दिन भोजन, कपड़ों, घर, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर खर्च करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में खर्च होने वाले 18 रुपए में से 8-9 रुपए केवल भोजन पर ही खर्च हो जाते हैं।

एनएसएसओ द्वारा सर्वेक्षित 17 राज्यों में मध्यप्रदेश का स्थान 16वां है। यानी मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च के मामले में उड़ीसा जो अंतिम स्थान पर है, उसके बाद मध्यप्रदेश का स्थान नीचे से दूसरे नंबर पर है। मध्यप्रदेश की स्थिति में कितनी तेजी से गिरावट आई है, इसका अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि वर्ष 2004-05 तथा 2005-06 के 13वें स्थान से गिरकर यह 2006-07 में 16वें स्थान पर पहुंच गया। अगर हम शहरी क्षेत्र में मासिक प्रति व्यक्ति औसत उपभोग खर्च के आंकड़े देखें तो मध्यप्रदेश का स्थान 15वां यानी नीचे से तीसरे नंबर पर दिखाई देता है। प्रदेश के प्रदर्शन में यह गिरावट इस तथ्य की रोशनी में देखा जा सकता है जिसके मुताबिक वर्ष 2004-05 तथा 2005-06 के 14वें स्थान से लुढ़ककर यह वर्ष 2006-07 में 15वें स्थान पर पहुंच गया। शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति औसत मासिक उपभोग खर्च के मामले में बिहार 865 रुपए के आंकड़े के साथ सबसे नीचे है। उसके बाद उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश (दोनों एक हजार रुपए से ज्यादा) का नंबर आता है। इस संदर्भ में केरल 1681 रुपए, महाराष्ट्र 1673 रुपए तथा पंजाब 1609 रुपए के साथ सबसे बेहतर राज्यों की श्रेणी में आते हैं।

वर्ष 2005-06 में 33.6 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या 12 रुपए प्रतिदिन से भी कम पर गुजारा कर रही थी। वहीं 8.9 प्रतिशत आबादी को रोजाना के लिए 9 रुपए से भी

कम मिल रहा था। वहीं शहरी क्षेत्रों में 29.4 प्रतिशत आबादी 19 रुपए प्रतिदिन से कम पर जीवन-यापन कर रही थी जबकि 8.4 प्रतिशत आबादी ऐसी थी जो रोजाना 13 रुपए से भी कम पर गुजारा कर रही थी। वर्ष 2006-07 में ग्रामीण क्षेत्र की 40.4 प्रतिशत आबादी 14 रुपए प्रतिदिन से भी कम पर गुजर-बसर कर रही थी। अगर हम मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च के बंटवारे को देखें तो पाते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों की बड़ी आबादी 13 रुपए रोजाना से भी कम औसत पर अपना जीवन जी रही थी। इसी तरह शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग खर्च के आंकड़ों के मुताबिक आबादी का बड़ा हिस्सा 18 रुपए प्रति दिन से भी कम पर अपना गुजारा कर रहा था। वहीं शहरी क्षेत्र की 22.8 प्रतिशत आबादी 19 रुपए प्रतिदिन से भी कम पर आजीविका चला रही थी। अगर हमें गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों की संख्या का अनुमान लगाना हो तो योजना आयोग के अनुमानों का सहारा लिया जा सकता है। इसके मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च 356.35 से कम होने तथा शहरी क्षेत्रों में 538.60 रुपए मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च से कम होने की दशा में उसे गरीबी रेखा में माना जाएगा। इस पैमाने के मुताबिक वर्ष 2006-07 में 22.8 फीसदी ग्रामीण आबादी तथा 28.2 फीसदी शहरी आबादी गरीबी रेखा से नीचे जीवन जी रही थी। यह राष्ट्रीय औसत के काफी करीब है।

#### 4. उपभोग का घरेलू स्वरूप

उपभोग के स्वरूप को विभिन्न श्रेणियों में मसलन, खाद्य व अखाद्य में बांटकर देखा जा सकता है। इसमें कुल खर्च, औसत उपभोक्ता खर्च, खाद्य श्रेणियां व उपभोग किए जाने वाले अनाज की मात्रा व उसकी विविधता को शामिल किया जा सकता है। नीचे दी गई तालिका में प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग खर्च की खाद्य व अखाद्य श्रेणियों में तुलना की गई है। यह वर्ष 2005-06 में हुए एनएसएस के 62वें चक्र के तथ्यों पर आधारित है।

तालिका-7

प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग खर्च की खाद्य व अखाद्य श्रेणियों में तुलना

वर्ष 2005-06 एवं 2006-07							
		प्रति व्यक्ति मासिक खर्च (रुपयों में)			कुल खर्च का प्रतिशत (रुपयों में)		
क्षेत्र	वर्ष	खाद्य	अखाद्य	कुल	खाद्य	अखाद्य	कुल
ग्रामीण	2006-07	363	332	695	52.3	47.7	100
	2005-06	333	291	625	53.3	46.6	100
शहरी	2006-07	517	795	1312	39.4	60.6	100
	2005-06	468	703	1171	40	60	100

ग्रामीण भारत के आंकड़े देखें तो पता चलता है कि राज्यों के स्तर पर प्रति व्यक्ति खाद्य उपभोग पर किए जाने वाले खर्च में काफी विविधता है। यह खर्च 17 प्रमुख राज्यों में 260 रुपए से 510 रुपए के बीच है, जबकि प्रति व्यक्ति खाद्य उपभोग खर्च का राष्ट्रीय औसत 363 रुपए है। यह मध्यप्रदेश, उड़ीसा और छत्तीसगढ़ में प्रति व्यक्ति खाद्य उपभोग खर्च सबसे कम है। यह 260 रुपयों से 275 रुपयों के बीच है। इसका मतलब यह हुआ कि मध्यप्रदेश की ग्रामीण आबादी भोजन के लिए हर दिन प्रति व्यक्ति आठ से नौ रुपए ही खर्च कर पाती है। जहां एक बोतल मिनरलयुक्त पानी की कीमत 12 रुपए है, यहां तक कि आधा लीटर दूध भी 14 रुपए से कम में नहीं वहां आठ से नौ रुपए खर्च करके कोई क्या खा-पी सकता है इससे कितनी कैलोरी ऊर्जा हासिल की जा सकती है प्रदेश में व्याप्त गरीबी की गंभीरता का आकलन जरूर किया जा सकेगा।

अगर हम मासिक खाद्य उपभोग खर्च के सिलसिले में अनाज पर होने वाले खर्च की बात करें तो राष्ट्रीय औसत के मुताबिक हर माह प्रति व्यक्ति 115 रुपए अनाज के लिए खर्च किए जाते हैं। लेकिन मध्यप्रदेश में तो यह मासिक सौ रुपए प्रति व्यक्ति से भी कम है। अगर शहरी भारत की बात की जाए तो मध्यप्रदेश उन पांच राज्यों में से एक है जहां अनाज खरीदने के लिए प्रति व्यक्ति मासिक खर्च सबसे कम (95 रुपए से 105 रुपए) होता है।

#### तालिका-8

#### अनाज व भोजन के लिए औसत प्रति व्यक्ति औसत खर्च तथा कुल उपभोक्ता खर्च में उसकी हिस्सेदारी

वर्ष 2005-06 व 2006-07 मध्यप्रदेश, समूचा भारत, ग्रामीण व शहरी क्षेत्र								
	ग्रामीण				शहरी			
राज्य	मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च, अनाज पर (रुपए)	मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च, भोजन पर (रुपए)	कुल खर्च में अनाज पर होने वाले खर्च का प्रतिशत	कुल खर्च में भोजन पर होने वाले खर्च का प्रतिशत	मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च, अनाज पर (रुपए)	मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च, भोजन पर (रुपए)	कुल खर्च में अनाज पर होने वाले खर्च का प्रतिशत	कुल खर्च में भोजन पर होने वाले खर्च का प्रतिशत
म.प्र.	87	264	17	51	104	409	10	41
भारत	115	363	17	52	119	517	9	39

जाहिर है कि ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में अनाज व भोजन पर किए जाने वाले प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च के आंकड़ों में काफी अंतर है। आंकड़ों के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में अनाज व भोजन पर शहरी क्षेत्रों की तुलना में ज्यादा खर्च किया जाता है।

## तालिका-9

चुनिंदा खाद्य समूहों पर  
प्रति व्यक्ति औसत उपभोग खर्च 2006-07

मध्यप्रदेश, समूचा भारत, ग्रामीण व शहरी प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग खर्च (रुपयों में)								
राज्य	दूध व दूध उत्पाद		अंडा, मछली व मांस		सब्जियाँ		फल	
	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
मध्यप्रदेश	45	84	7	12	29	44	7	21
भारत	56	97	24	34	43	57	12	28

ऊपर दी गई तालिका से पता चलता है कि ग्रामीण भारत में दूध, अंडे, सब्जियों तथा फल आदि पर प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च शहरी भारत की तुलना में काफी कम है। हालांकि तालिका से यह पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्र में अनाज व भोजन पर शहरी क्षेत्र की तुलना में प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च ज्यादा है। इससे जाहिर होता है कि ग्रामीण आबादी की आय का एक बड़ा हिस्सा भोजन के लिए अनाज खरीदने पर खर्च हो जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य पोषक खाद्य पदार्थों मसलन दूध, अंडा, फल या सब्जियों पर खर्च नहीं किया जाता।

### 4.1 प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग में मात्रात्मक भिन्नता

- ग्रामीण क्षेत्रों में चावल व गेहूं आबादी के कुल अनाज उपभोग में 90 प्रतिशत की भागीदारी रखते हैं, बाकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह 90 फीसदी है। ग्रामीण भारत में तो चावल व गेहूं को छोड़कर अन्य अनाज के उपभोग का प्रतिशत महज 6 या इससे भी कम है। हालांकि इस मामले में गुजरात (41 प्रतिशत), कर्नाटक (37 प्रतिशत), महाराष्ट्र (33 प्रतिशत), राजस्थान (28 प्रतिशत) तथा मध्यप्रदेश (20 प्रतिशत) में हालत थोड़ी बेहतर है। इसी तरह शहरी क्षेत्र में चावल, गेहूं को छोड़कर अन्य अनाज का उपभोग 3 प्रतिशत या इससे भी कम किया जाता है। यहां भी चार राज्यों कर्नाटक (24 प्रतिशत), महाराष्ट्र व गुजरात (10-11 प्रतिशत) तथा राजस्थान (7 प्रतिशत) में स्थिति कुछ बेहतर है।
- भारत में अनाज उपभोग के क्षेत्र में एक अन्य तथ्य यह है कि चावल उपभोग करने वाले राज्यों में प्रति व्यक्ति अनाज औसत उपभोग की दर अन्य राज्यों की तुलना में कहीं ज्यादा है। गेहूं का ज्यादा उपभोग करने वाले राज्य भी इनमें शामिल हैं। हालांकि केरल, तमिलनाडु जैसे राज्य इनमें शामिल नहीं हैं।

ऊपर दी गई तालिका से पता चलता है कि ग्रामीण भारत में दूध, अंडे, सब्जियों तथा फल आदि पर प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च शहरी भारत की तुलना में काफी कम है। हालांकि तालिका से यह पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्र में अनाज व भोजन पर



शहरी क्षेत्र की तुलना में प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च ज्यादा है। इससे जाहिर होता है कि ग्रामीण आबादी की आय का एक बड़ा हिस्सा भोजन के लिए अनाज खरीदने पर खर्च हो जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य पोषक खाद्य पदार्थों मसलन दूध, अंडा, फल या सब्जियों पर खर्च नहीं किया जाता।

#### तालिका-10

प्रति व्यक्ति मासिक अनाज उपभोग में  
चावल व धान की हिस्सेदारी, वर्ष 2006-07

मध्यप्रदेश व समूचा भारत								
		ग्रामीण				शहरी		
राज्य	मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग किए जाना वाला अनाज (किग्रा)	उपभोग होने वाले कुल अनाज में हिस्सेदारी			मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग किए जाना वाला अनाज (किग्रा)	उपभोग होने वाले कुल अनाज में हिस्सेदारी		
		चावल	गेहूं	अन्य अनाज		चावल	गेहूं	अन्य अनाज
म.प्र.	9.7	19	61	20	9.3	25	74	2
भारत	11.7	56	34	10	9.6	50	46	4

राष्ट्रीय सैंपल सर्वे संस्थान (एनएसएसओ) के आंकड़ों के मुताबिक प्रति व्यक्ति मासिक अनाज उपभोग के मामले में मध्यप्रदेश (9.73 किग्रा) की स्थिति नीचे से तीसरी है। वहीं केरल (9.37) तथा पंजाब (9.63) इससे भी बदतर है ये राज्य मांस और दूध उत्पादों पर ज्यादा खर्च करते हैं इसलिये कम अनाज उपभोग को वहां भुखमरी से नहीं जोड़ा जा सकता है। अन्य सभी अनाजों की तुलना में गेहूं का उपभोग ग्रामीण व शहरी दोनों ही क्षेत्रों में ज्यादा है। हालांकि प्रति व्यक्ति मासिक अनाज उपभोग के मामले में मध्यप्रदेश राष्ट्रीय औसत की तुलना में काफी नीचे है।

#### तालिका-11

ग्रामीण क्षेत्र में 30 दिनों में प्रति व्यक्ति विभिन्न अनाजों के उपभोग की औसत मात्रा  
(किग्रा/30दिन, औसत रुपये में)

उपभोग	चावल	गेहूं	ज्वार	बाजरा	मक्का	अन्य अनाज	कुल अनाज	वर्ष 2006-07 में ₹क	कुल	वर्ष 2005-06 में ₹क
भारत	6.557	3.973	0.416	0.346	0.265	0.128	11.685		11920	
औसत दर	67.06	38.71	3.33	2.71	2.08	0.91	114.80		10630	

मणिपुर	15.165	0.129	0.000	0.000	0.013	0.000	15.307	1	15.61	1
औसत दर	200.91	2.34	0.00	0.00	0.17	0.00	203.42		207.03	
जम्मू कश्मीर	11.017	3.361	0.000	0.000	0.733	0.000	15.110	2	1297	
औसत दर	108.74	45.10	0.00	0.00	5.22	0.00	159.05		136.03	
अरुणाचल प्रदेश	12.989	0.429	0.000	0.000	0.331	0.508	14.258	3	1486	2
औसत दर	146.77	6.56	0.00	0.00	3.66	6.03	163.03		157.22	
असम	13.069	0.561	0.000	0.000	0.002	0.000	13.622	4	1308	
औसत दर	148.40	6.77	0.00	0.00	0.02	0.00	155.19		135.40	
उड़ीसा	12.573	0.480	0.000	0.000	0.006	0.266	13.325	5	1388	
औसत दर	107.24	7.32	0.00	0.00	0.05	1.64	116.26		115.63	
बिहार	7.434	5.007	0.000	0.001	0.701	0.000	13.144	6	1289	
औसत दर	81.51	53.18	0.00	0.00	4.49	0.00	139.18		124.98	
केरल	8.354	1.007	0.000	0.000	0.000	0.005	9.366	25	9.19	
औसत दर	97.64	15.14	0.00	0.00	0.04	0.09	112.91		110.00	
मध्यप्रदेश	1.828	5.965	1.006	0.218	0.688	0.013	9.718	24	11.48	17
औसत दर	18.36	54.27	6.99	1.71	5.87	0.07	87.27		8646	
केंद्र शासित राज्य	7.004	2.234	0.091	0.103	0.005	0.002	9.439	23	9.27	
औसत दर	74.28	29.30	0.83	0.92	0.16	0.02	105.51		98.43	
गुजरात	2.114	3.830	0.581	2.228	1.274	0.044	10.070	22	9.34	
औसत दर	24.37	36.97	4.47	18.97	11.21	0.26	96.24		81.87	
हरियाणा	0.775	9.080	0.003	0.351	0.022	0.000	10.231	21	1039	
औसत दर	10.33	73.34	0.01	2.44	0.24	0.00	86.36		7590	
कर्नाटक	5.575	0.936	2.332	0.052	0.011	1.476	10.383	20	1055	
औसत दर	49.39	9.97	21.59	0.36	0.10	8.42	89.83		82.91	

ऊपर की तालिका से पता चलता है कि बिहार, उड़ीसा समेत उत्तर-पूर्वी राज्य ऊपर के 6-7 राज्यों में शामिल हैं जहां खाद्य उपभोग का स्तर काफी बेहतर है। वहीं आर्थिक, सामाजिक मामलों में ताकतवर माने जाने वाले गुजरात, केरल, हरियाणा व कर्नाटक सरीखे राज्यों में उनकी अधिकांश आबादी को काफी कम खाद्यान्न नसीब हो पाता है। ये राज्य नीचे के पांच राज्यों में शामिल हैं। इनमें मध्यप्रदेश भी है। कुल मिलाकर भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्य उपभोग का स्तर गिरावट की ओर है। वर्ष 2005-06 में एक परिवार में प्रति व्यक्ति मासिक अनाज उपभोग की मात्रा 11.920 किलोग्राम थी। इसे हासिल करने के लिए वे 106.30 रुपए खर्च करते थे। लेकिन वर्ष 2006-07 में प्रति व्यक्ति मासिक अनाज उपभोग की मात्रा घटकर 11.685 किलोग्राम (1.97 प्रतिशत की गिरावट) रह गई। लेकिन इसे हासिल करने के लिए होने वाला खर्च बढ़कर 114.80 रुपए पहुंच गया।

मध्यप्रदेश में अनाज उपभोग के स्वरूप में हुआ बदलाव राज्य में खाद्य सुरक्षा पर मंडरा रहे संकट को साफ तौर पर दर्शाता है। मध्यप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ष 2005-06 में मासिक प्रति व्यक्ति औसतन अनाज उपभोग की मात्रा 11.48 किलोग्राम थी, जिसे खरीदने के लिए 86.46 रुपए खर्च किए जाते थे। लेकिन ताजे आंकड़ों के मुताबिक राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों मासिक प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग की मात्रा गिरकर 9.718 किलोग्राम तक पहुंच गई है। इससे मासिक प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग की दर में 15.34 प्रतिशत की गिरावट देखी जा सकती है। हालांकि इसके लिए उन्हें पहले की ही तरह 87.27 रुपए चुकाने पड़ रहे थे। इससे साफ तौर पर महंगाई का अनाज उपभोग के स्वरूप व प्रवृत्ति पर होने वाला असर देखा जा सकता है।

## तालिका-12

शहरी क्षेत्र में 30 दिनों में प्रति व्यक्ति विभिन्न अनाजों के उपभोग की औसत मात्रा

(किग्रा / 30दिन, औसत रुपये में)										
उपभोग	चावल	गेहूं	ज्वार	बाजरा	मक्का	अन्य अनाज	कुल अनाज	वर्ष 2006-07 में ₹क	कुल	वर्ष 2005-06 में ₹क
भारत	4.797	4.428	0.212	0.101	0.024	0.065	9.626		9.76	
औसत दर	60.81	54.19	2.05	0.90	0.32	0.54	118.80		109.79	
मणिपुर	12.194	0.808	0.001	0.000	0.021	0.017	13.041	1	12.77	1
औसत दर	157.62	14.26	0.02	0.28	0.40	0.32	106.11		163.89	
जम्मू कश्मीर	8.913	3.922	0.000	0.000	0.006	0.000	12.841	2	12.67	3
औसत दर	107.25	58.83	0.00	0.00	0.05	0.00	142.46		151.94	
असम	11.222	1.314	0.000	0.000	0.006	0.000	12.569	3	11.65	
औसत दर	151.89	23.61	0.00	0.00	0.81	0.00	176.31		146.63	
उड़ीसा	9.598	2.173	0.000	0.000	0.001	0.004	11.776	7	1245	
औसत दर	99.75	32.42	0.00	0.00	0.05	0.03	132.25		129.94	
बिहार	6.525	5.780	0.000	0.000	0.121	0.000	12.426	4	12.38	
औसत दर	80.14	71.33	0.00	0.00	1.10	0.01	152.58		130.50	
केरल	7.475	1.248	0.000	0.000	0.002	0.007	8.732	20	890	
औसत दर	91.21	20.03	0.00	0.00	0.15	0.32	111.70		112.72	
मध्यप्रदेश	2.278	6.826	0.053	0.019	0.082	0.002	9.260	18	9.95	17
औसत दर	29.19	73.60	0.41	0.16	0.72	0.03	104.10		91.41	
केंद्र शासित राज्य	4.968	3.085	0.011	0.027	0.011	0.028	8.130	24	8.71	
औसत दर	63.20	41.80	0.12	0.28	0.40	0.32	106.11		99.53	
गुजरात	2.120	5.217	0.084	0.617	0.068	0.006	8.111	25	8.60	
औसत दर	32.86	61.41	0.79	5.62	0.55	0.10	101.32		91.60	
हरियाणा	1.812	7.080	0.000	0.062	0.027	0.000	8.981		198.57	

औसत दर	25.19	68.89	0.00	0.41	0.39	0.00	94.87		79.59	
कर्नाटक	5.653	1.631	1.445	0.006	0.000	0.871	9.606	18	9.58	
औसत दर	75.29	24.00	13.98	0.05	0.02	6.41	119.76		107.18	
पंजाब	1.080	7.330	0.000	0.000	0.072	0.000	8.483		228.63	
औसत दर	18.22	81.72	0.00	0.00	1.11	0.00	101.06		88.12	

इन आंकड़ों से साफ पता चलता है कि शहरी क्षेत्रों में भी अनाज उपभोग के मामले में मध्यप्रदेश की स्थिति में कोई खास बदलाव नहीं है। इस तालिका से यह तथ्य जरूर सामने आया है कि सर्वाधिक खाद्यान्न उपभोग वाले ऊपर के सात राज्य वे हैं जहां गेहूं की तुलना में चावल का इस्तेमाल ज्यादा होता है। उदाहरण के तौर पर असम, जम्मू एवं कश्मीर, मणिपुर, बिहार आदि। इसमें केरल व कर्नाटक जरूर अपवाद हैं, लेकिन ऐसा माना जा सकता है कि खाद्यान्न उपभोग की यह प्रवृत्ति वहां अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए फसल उगाने की बजाय नगद फसलों को उपजाने की होड़ के चलते बढ़ी है।

इस श्रेणी के सबसे बुरे प्रदर्शक राज्य, गुजरात, हरियाणा, पंजाब व मध्यप्रदेश मूल रूप से गेहूं उपभोग करने वाले राज्य हैं। इस विश्लेषण से यह सवाल उठता है कि क्या यह वास्तव में खाद्यान्न संकट का मामला है या फिर चंद खास अनाजों को उपजाने के पीछे कोई बड़ी राजनीति काम कर रही है। हम जमीनी स्तर पर इस असमानता का विश्लेषण करते समय निश्चित तौर पर खाद्य सुरक्षा से जुड़े अन्य बड़े आर्थिक पहलुओं मसलन, व्यापार उदारीकरण, खरीद मूल्य, नवउदारीकरण सुधार आदि की उपेक्षा नहीं कर सकते। कभी देश भर को अनाज देने वाले पंजाब, हरियाणा और गुजरात सरीखे राज्यों को अपनी आबादी को भरपेट भोजन कराने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। कुछ का तो संबंध नवउदारीकरण सम्बंधी नीतियों से जरूर है।

### तालिका-13

ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 30 दिनों में  
भिन्न उत्पादों के लिए उपभोग का औसत खर्च

मध्यप्रदेश व समूचा भारत				
उत्पाद समूह	मध्यप्रदेश		भारत	
	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
अनाज	87.27	104.1	114.80	118.8
चना	0.70	0.83	1.18	1.68
अनाज के विकल्प	0.27	0.84	0.46	0.50
दालें व उनके उत्पाद	21.50	30.75	22.67	30.06

दूध व उनके उत्पाद	44.75	84.19	56.23	97.49
खाद्य तेल	22.60	32.87	27.22	37.52
अंडा, मछली, मांस	7.44	12.28	24.32	34.20
सब्जियां	29.40	43.59	43.06	56.87
फल (ताजा)	5.39	14.52	10.02	21.97
फल (सूखे)	1.20	6.35	2.45	6.03
शक्कर	12.48	17.85	14.04	17.25
नमक	1.06	1.54	1.34	1.66
मसाले	11.0	14.57	14.96	18.82
पेयपदार्थ आदि	18.81	44.82	30.67	74.42
<b>कुल: खाद्य समूह</b>	<b>263.86</b>	<b>409.10</b>	<b>363.42</b>	<b>517.25</b>
ईंधन व बिजली	60	104.96	66.07	117.44
कपड़े	29.07	48.79	42.42	70.25
शिक्षा	8.52	69.21	22.16	91.60
चिकित्सा: संस्थागत	14.36	22.97	15.55	24.35
चिकित्सा: गैर संस्थागत	26.50	53.85	36.74	58.23
<b>कुल: गैर खाद्य समूह</b>	<b>251.07</b>	<b>592.6</b>	<b>331.75</b>	<b>795.25</b>
<b>कुल खर्च</b>	<b>514.93</b>	<b>1001.70</b>	<b>695.16</b>	<b>1312.50</b>

इस तालिका से साफ तौर पर देखा जा सकता है कि खाद्य उपभोग व खर्च में होने वाली असमानता न केवल राज्यों के बीच है बल्कि यह राज्यों के अंदर भी बनी हुई है। मध्यप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्र तथाकथित विकास या तेजी से बढ़ती आर्थिक वृद्धि का फायदा नहीं उठा पा रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अंडे, मांस, फल, सब्जियां या दूध उत्पादों पर किया जाने वाला खर्च शहरी क्षेत्रों में होने वाले इस खर्च की तुलना में आधा भी नहीं है। भारत सरकार की ओर से तय की गई गरीबी रेखा की परिभाषा के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों को उनके श्रम के कारण ज्यादा कैलोरी लेने की बात कही गई है लेकिन ऐसे पोषक तत्वों वाले खाद्य पदार्थ लेने का माध्यम मध्यप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में नजर नहीं आता।

शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतों पर खर्च होने वाली राशि भी शहरों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में न्यूनतम पर आ गई है। संभवतः ऐसा शहरी क्षेत्रों में मुफ्त शिक्षा व स्वास्थ्य योजनाओं के कारण हो। ध्यान देने वाली बात है कि सरकार

केवल स्कूली शिक्षा ही मुफ्त में मुहैया करा रही है। उच्च शिक्षा या स्नातक शिक्षा के खर्चे तो लोगों को ही उठाने पड़ते हैं। निश्चित तौर पर अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों के लोग इन स्तरों तक पहुंच भी नहीं पाते। एनएसएसओ के मध्यप्रदेश संबंधी आंकड़े बताते हैं कि सात वर्ष से ज्यादा आयुवर्ग की 63.4 फीसदी ग्रामीण आबादी तथा 35.3 फीसदी शहरी आबादी (महिला व पुरुष दोनों) स्कूली शिक्षा भी पूरी नहीं कर पाती है। शिक्षा पर कम खर्च का कारण सरकार से मिलने वाली किसी तरह की मदद नहीं है, बल्कि यह इसलिए होता है वहां शिक्षा हासिल करने वालों की ही कमी है।

## अंत में

पहला तो यह कि इस रिपोर्ट में जिन आंकड़ों और विश्लेषणों का इस्तेमाल किया गया है वे अंतिम नहीं हैं। यह तो केवल एक जरिया था यह पता लगाने का कि आर्थिक क्षेत्र में चल रही कवायद का धरातल पर कितना असर पड़ रहा है। इसीलिए यहां विकास के नाम पर चल रही राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र के बीच जारी सांठगांठ को समझने को लिए आलोचनात्मक नजरिया अपनाया गया तो सीधे-सपाट आंकड़ों से परे जाकर असल स्थिति समझने की कोशिश की गई। दूसरा, जैसा कि इस रिपोर्ट की शुरुआत में ही कहा जा चुका है कि खाद्यान्न संकट की वजह महज खाद्यान्न का अभाव या महंगाई नहीं है। यह वास्तव में सरकार या राज्य की असफलता है जिसमें वे लोगों को एक ऐसा जीवन जीने की क्षमता देने में नाकाम रहे हैं जिनके जरिए वे अपनी जरूरतों को समझने और उन्हें पूरा करने में समर्थ होते। यहां राज्य से हमारा तात्पर्य राष्ट्रीय व राज्यस्तरीय सरकारों से है। सरकारों की ओर से सार्वजनिक वितरण प्रणाली या खाद्य राहत के जरिए खाद्य आपूर्ति सुनिश्चित करने के प्रयास आधे-अधूरे मन से किए गए हैं। गैट व विश्व व्यापार संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय समझौते कर घुटने टेके हैं और अब ऐसी नीतियां लागू कर रहे हैं जो पश्चिम के देशों द्वारा थोपी जा रही हैं। राज्य ऐसी नीतियों को लागू कर पाने में पूरी तरह असफल रहे हैं जिनसे कृषि क्षेत्र में ढांचागत असमानता दूर हो सके और लोगों को आजीविका के बेहतर माध्यम मुहैया कराकर उनकी क्रय क्षमता बढ़ाई जा सके।

सरकार की परिभाषा के मुताबिक जिनके पास पांच एकड़ या उससे कम जमीन हो वही छोटे व सीमांत किसान हैं। एनएसएसओ के 2006-07 के आंकड़ों के मुताबिक देश के ग्रामीण क्षेत्र में 86.7 प्रतिशत जमीन छोटे या सीमांत किसानों के पास है। एनएसएसओ के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों की 70.2 प्रतिशत आबादी प्रत्यक्ष या परोक्ष तौर पर कृषि पर निर्भर है। देश के कुल घरेलू उत्पाद में उनकी हिस्सेदारी 30 प्रतिशत है। यह निश्चित तौर पर ढांचागत असमानता है जिसमें समाज की आबादी का एक बड़ा हिस्सा किसी क्षेत्र में कम योगदान दे रहा हो। इसे दूर करने के प्रयासों का कहीं अता-पता नहीं है। दूसरा महत्वपूर्ण सवाल आजीविका के

दीर्घकालीन उपायों का है। हालांकि सरकार की ओर से काम के अधिकार को लेकर कुछ न कुछ प्रयास किए जा रहे हैं, लेकिन क्या यह रास्ता यहीं पर खत्म हो जाता है। वास्तव में धरातल पर आजीविका और पोषण के दावे हवा-हवाई हैं। वर्ष 2006-07 में मध्यप्रदेश में 15 वर्ष से अधिक आयुवर्ग के 1000 लोगों में से महज 112 को ही सार्वजनिक काम हासिल कर पाने में कामयाबी मिल सकी। 104 को काम नहीं मिला और 784 ने तो काम मांगा ही नहीं। सरकारी योजनाओं में उनके प्रचार-प्रसार के लिए भी अच्छी-खासी राशि मुहैया कराई जाती है, तो क्या वजह है कि इतनी बड़ी संख्या में लोगों ने काम ही नहीं मांगा। वे लोग भी जिन्हें काम मिला, महज 16 दिन ही रोजगार से जुड़े रह सके। इस दौरान उन्हें रोजाना 56 रुपए की मजदूरी मिली। जबकि राज्य सरकार ने कृषि क्षेत्र के अप्रशिक्षित मजदूर तक के लिए 61.37 रुपए की न्यूनतम मजदूरी तय की हुई है।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (नरेगा) के तहत ऐसे लोगों को बेरोजगारी भत्ता दिया जाता है जिन्होंने काम के लिए आवेदन दिया हो लेकिन उन्हें काम न मिल पाए। एनएसएसओ के आंकड़ों के मुताबिक प्रति हजार में से 226 लोगों ने शिकायत की है कि उन्हें काम नहीं मिल पाया, लेकिन उन्हें किसी तरह का भत्ता भी नहीं मिला है।

#### नोट :

1. एनएसएसओ के आंकड़ों में हेक्टेयर का जिक्र है, 1 हेक्टे: 2.471054 एकड़ यानी दो हेक्टेयर में करीब पांच एकड़
- 2- <http://www.mp.gov.in/spb/fiveyearplan/Volumelsep07/Chapter-6%20agr%20final.pdf>. Accessed on 11th December, 2008
3. 'सार्वजनिक काम' यानी सरकार या स्थानीय निकाय द्वारा कराए जाने वाले ऐसे काम जिनसे रोजगार सृजित होता हो।
4. <http://www.paycheck.in/main/officialminimumwages/madhya-pradesh>. Accessed on 9th December, 2008.



## उल्लेख

इस पुस्तक को तैयार करने की एक प्रक्रिया रही है, जिसमें लोगों के साथ संवाद, अलग-अलग क्षेत्रों में घूमने और आंकड़े इकट्ठे करने की कोशिशों की गई। इस प्रक्रिया में हमें संपर्क, आभार महिला समिति, परहित, भोजन का अधिकार अभियान, मध्यप्रदेश लोक संघर्ष साझा मंच, बुंदेलखंड आपदा निवारण मंच, नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ विमेन, चाइल्ड एंड यूथ डेवेलपमेंट, स्पंदन ने मौके पर मदद की। व्यक्तियों के रूप में हिंदुस्तान टाइम्स के स्थानीय सम्पादक एन.के. सिंह, वरिष्ठ पत्रकार अरविन्द मोहन, राकेश दीवान, नव दुनिया के गिरीश उपाध्याय, देविंदर शर्मा, राकेश मालवीय, सीमा प्रकाश, निलेश देसाई के साथ हर्षमंदर, बिराज पटनाइक, कविता श्रीवास्तव, अरुंधती धुरु, डॉ. सुरेश मिश्र, चिन्मय मिश्र, अमन नम्र, पंकज शुकल, प्रशांत दुबे, रोली शिवहरे, माहिम प्रताप सिंह का साथ रहा है।



